ारण किसी भी
होने के कारण
। इसलिए इस
उनका दर्शन,
ाग कर, हिंसा,
ाप कामों का
है। इसी के
लिए अणुव्रत,
आदि कुछ न
कुछ व्यवहार-चरित्र भी सभी जैन भाइ बहिनों को आचरण करना चाहिए। पाप छोड कर पुण्य कार्य करने से ही इस जमाने में मनुष्य धर्म साधन कर सकता है।

कुछ लोग पूजा, दान, व्रत, उपवास आदि श्रद्धान और व्यवहार चारित्र को तथा अन्य पुण्य कार्यों को छोड देने का उपदेश देकर जनता को श्रद्धान तथा चारित्र से भ्रष्ट करने का गलत प्रचार करते है। उस गलत प्रचार से सावधान करने के लिए हमारी प्रार्थना पर श्री १०५ क्षु० सुमतिसागरजी महाराज ने यह पुस्तक लिखी है। इसको पढकर सर्व साधारण को धर्म और पुण्य पाप के विषय में ठीक जानकारी होगी और भोली-भाली जनता भ्रामक प्रचार से बची रहेगी, ऐसी आशा है।

समस्त स्त्री पुरुष इस पुस्तक को आदि से अन्त तक पढने की कृपा करे, ऐसा हमारा अनुरोध है।

प्रकाशक

समालोचनार्थ

सोनगढ़—सिद्धान्त

(परिवर्द्धित संस्करण)

लेखक—

क्षुल्लक श्री १०५ सुमतिसागर महाराज

(कानपुर वाले)

प्रकाशक

[illegible] कृष्ण जैन

मन्त्री-जैन शास्त्र स्वाध्याय शाला

श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ मन्दिर

(बाबा जी की बगीची)

बर्फखाने के पीछे, सब्जी मन्डी, दिल्ली—६

(कुल पृष्ठ १३६)

तृतीय संस्करण २०००	२०-२-१९६४	मूल्य ४० नये पैसे २५ डाक खर्च

सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज, देहली।

डाक द्वारा ५५ नये पैसे के टिकट भेजकर मंगाए।

धन्यवाद

इस उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन में निम्नलिखित सहायता प्राप्त हुई है:—

५०१) श्री लाला रतनलाल जी जैन C/O
मैसर्ज मूलचन्द श्री माणिकचन्दजी जैन, बीड़ी वाले, नया बांस, देहली।

श्री मान् लाला रतनलालजी अत्यन्त धर्मात्मा और दानी सज्जन हैं। आपके घर में धर्म का अच्छा प्रभाव है। आपके भाई श्रीमान् ला० मूलचन्दजी, सुपुत्र श्री माणिकचन्द जी तथा घर के सभी धार्मिक कार्यों मे अच्छी रुचि रखते हैं। आपने द्वितीय संस्करण ५०१) सहायता देकर एक हजार पुस्तकें अपनी ओर से वितरण की। इस संस्करण के लिये भी आपने उसी उदारता से सहायता दी है। इसके लिए आपको हार्दिक धन्यवाद है।

प्रकाशक

+❀+

तृतीय संस्करण

★ 'सोनगढ सिद्धान्त' का यह नया संस्करण पाठकों के समक्ष रखते हुए प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। एक वर्ष के समय मे ही तीसरे संस्करण का प्रकाशित होना यह सूचित करता है कि लोग महान् पूर्वाचार्यों के मन्तव्य के विरुद्ध, शास्त्रो का मनमाना अर्थ करने वालो से सचेत हो रहे हैं। यह शुभ चिह्न है।

इस संस्करण में २४ पृष्ठ और बढाकर कई विषयों पर नवीन लेख दिये गये हैं। पाठक ध्यान से पढकर लाभ उठाने की कृपा करें।

विनीत—प्रकाशक

+❀+

पत्र व्यवहार का पता—

श्रीकृष्ण जैन
४५३७, पहाड़ी धीरज,
देहली ६

दो शब्द

माननीय श्री कानजी स्वामी ने पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थो से प्रभावित होकर दिगम्बर धर्म में पदार्पण किया, यह बात तो अभिनन्दनीय है परन्तु प्रारम्भ से ही कई विषयों मे उनकी अपनी जुदी मान्यता रही है और तभी से उनकी उन मान्यताओ के विरुद्ध साहित्य भी बराबर निकलता रहा है। कुछ पुस्तकों के नाम ये हैं :—

श्री पूज्य मुनि विद्यानन्द जी—दि. जैन साहित्य में विकार

श्री पूज्य क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी-प्रवचन (टेप रिकार्डिंग)

श्री क्षु० सुमतिसागर जी कानपुर वाले—दिव्य सन्देश २ भाग

श्री ब्र० चांदमल जी चूडीवाल—कांजी मत विवेचन,
२—जैन तत्व मीमासा की समीक्षा।

श्री ब्र० चुन्नीलाल जी देसाई—सोनगढ़ का कलंक

श्री पं० श्रीलाल जी पाटनी अलीगढ—कानजी स्वरूपम्

सिद्धान्त महोदधि पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य—एकान्त परिहार

पं० मक्खनलाल जी न्यायालंकार मोरेना—श्री कानजी मत खडन,
२—दि० जैन धर्म के नाम से कानजी स्वामी का नया पंथ।

श्री पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री जयपुर—पुण्यधर्म—मीमांसा
३—मोक्ष मार्ग विरोधी श्री कानजी भाई
२—भावलिंगी और द्रव्यलिंगी मुनि का स्वरूप

श्री प० जीवन्धर जी न्यायतीर्थ इन्दौर—जैन तत्त्व विवेक

पं० अजितकुमार जी शास्त्री देहली—तात्त्विक विचार

श्री प० सुमेरचन्द जी दिवाकर सिवनी—अध्यात्मवाद की मर्यादा,
२—सैद्धान्तिक चर्चा

श्री नेमिचन्द जी वकील सहारनपुर—व्यवहारधर्म निश्चय धर्म का साधनभूत है।

श्री पं० शिखरचद जी ईसरी—समाधान चन्द्रिका

श्री पं० मक्खनलाल जी व्याख्यान वाचस्पति देहली—कानजी स्वामी

और दि० जैनाचार्य क्या कहते हैं ?

श्री प्रभुदास बेचादास जी पारख कलकत्ता—अजैनपने का लक्षण

इस प्रकार २२-२३ पुस्तकें मेरे देखने में आई हैं। कई पुस्तकें और भी लिखी गई होगी। इनके अतिरिक्त श्री प० अजितकुमार जी शास्त्री 'जैन गजट' मे वर्षों से लिख रहे हैं। श्री प० वंशीधर जी व्याकरणाचार्य बीना के 'गजट' मे लगभग ४० लेख निकल चुके हैं। श्री ब्र० रतनचन्द जी मुख्तार सहारनपुर, पं० लालबहादुरजी शास्त्री, एम० ए० इन्दौर आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार देहली, श्री पं० शिवजीराम जी रांची, डा० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एम० ए० वाराणसी, श्री ब्र० मूलशंकर जी देसाई, श्री बाबूलाल जी कलकत्ता, श्री सोहनलाल जी गणधर लाडनू आदि अनेक विद्वानो ने भी इस विषय मे पर्याप्त लिखा है।

इन सब प्रकाण्ड विद्वानो ने अत्यन्त पुष्ट शास्त्रीय प्रमाणों से श्री कानजी स्वामी की मान्यताओ को शास्त्र-विरुद्ध ठहराया है किन्तु सोनगढ़ से किसी विद्वान् की किसी भी बात का कोई समाधान नही किया गया।

कुछ भाई कहते हैं कि स्वामी जी विवाद में नही पडना चाहते। इसलिये वे किसी का उत्तर भी नही देते, पर यह किसी व्यक्ति को उत्तर देने की बात नही, दिगम्बर जैन धर्म के नाम पर जिन सिद्धान्तो और मान्यताओं का प्रचार किया जा रहा है उनको शास्त्रानुकूल सिद्ध करना तथा विद्वानो की शकाओ का उचित समाधान करना सोनगढ़ वालों का आवश्यक और पुनीत कर्तव्य है। सदा यही परिपाटी रही है। अब सोनगढ वाले यह समझते है कि उनकी मान्यताये शास्त्रानुकूल हैं तो उच्चकोटि के इतने विद्वानो ने जो कुछ लिखा है उसका समाधान किया ही जाना चाहिये।

भारतवर्षीय जैन विद्वत् परिषद् ने इस विषय में स्वामी जी से चर्चा करनी चाही और इसीलिये अपना अधिवेशन तक सोनगढ़ मे करना स्वीकार किया तथा विद्वान् वहाँ पहुँचे, पर उनके साथ चर्चा नहीं हो सकी। श्री कानजी स्वामी की शिखर जी की यात्रा के समय विद्वानों

ने उनसे ईसरी मे पूज्य वर्णी गणेशप्रसादजी के समक्ष चर्चा करनी चाही, पर बात को टाल दिया गया। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली आदि स्थानों में भी यही हाल रहा। अनेक नगरो की समाजों की ओर से सुप्रतिष्ठित व्यक्तियो के हस्ताक्षर सहित पत्र सोनगढ़ भेजे गए कि विद्वानो के साथ चर्चा होकर यह अनिश्चित स्थिति समाप्त होनी चाहिए, पर सब व्यर्थ हुआ। तात्पर्य यह कि सोनगढ वाले किसी तरह भी अपने सिद्धान्तो पर चर्चा करने को तैयार नहीं, वे अपनी बात तो सुनाना चाहते हैं पर अन्य किसी विद्वान् की सुनना नही चाहते। पाठको को यह जान कर आश्चर्य होगा कि सोनगढ़ के श्री मन्दिर जी मे श्री कानजी स्वामी तथा उनके भक्तो के अतिरिक्त अन्य किसी विद्वान् का भाषण नहीं हो सकता।

ये सब बातें समाज मे दलबन्दी का कारण बन रही हैं। सोनगढ़ की ओर से नई विचारधारा को फैलाने का भरसक प्रयत्न हो रहा है। इससे जगह-जगह आपस मे ऐसी विचार-विभिन्नता पनप रही है जिसका फल अन्त मे समाज के लिये अत्यन्त घातक दिखाई देता है। पर विद्वानो के साथ चर्चा करके शास्त्रानुकूल एक राय बनाने की ओर कोई ध्यान नही।

इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य यही है कि श्री कानजी स्वामी तथा हमारे मुमुक्षु भाई यह देखें कि वे अपनी मान्यताओ का आधार पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य को कहते हैं, पर उन्हीं के ग्रन्थो से उनकी मान्यताओ का खण्डन हो रहा है। साथ ही सोनगढ के ग्रन्थो मे जिन शब्दों मे एकनय का पोषण किया जा रहा है वह जैन परम्परा के विपरीत है।

सम्माननीय श्री कानजी स्वामी तथा दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रष्ट सोनगढ के अधिकारियों से सानुरोध प्रार्थना है कि अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, वे इस विषय पर अत्यन्त गंभीरता से विचार करें तथा विद्वानो के साथ वीतराग भाव से चर्चा एव विचार-विनिमय करके शास्त्रसम्मत ऐसा मार्ग निश्चित करें जिसमे विवाद न हो तथा सभी शान्ति से उसे अपनाकर आत्मकल्याण कर सकें।

—प्रकाशक

द्वितीय संस्करण

"सोनगढ-सिद्धान्त" का द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण पाठको की सेवा मे उपस्थित करते हुये अत्यन्त प्रसन्नता होती है। दो हजार प्रतियो का प्रथम सस्करण इतनी शीघ्रता से ५, ६ माह मे ही समाप्त हो गया। उसकी प्रतियाँ भारत के सभी प्रान्तो मे पहुँची तथा सभी प्रान्तो से इसके विषय मे अनेक पत्र प्राप्त हुये। उनसे ज्ञात होता है कि लोगों में अभी भी विवेक है तथा वे अपने कर्त्तव्य को भली भाँति समझते हैं।

हमारे कुछ प्रतिष्ठित समाजसेवी बन्धु पुस्तक मे लिखी बातो से तो पूर्णतया सहमत हैं पर उनका विचार है कि निमित्त-उपादान, पुण्य-पाप आदि विषयो की चर्चा से समाज का वातावरण अशान्त होता जा रहा है, साथ ही सोनगढ़ वाले अपनी बातों पर अड़े हुए हैं तथा वे इन विषयों पर बात तक नही करते तो अपनी ओर से ही यह चर्चा बन्द कर दी जाय और जैसा वे चाहे उनको करने दिया जाय। हमारा उन सज्जनो से नम्र निवेदन है कि जो लोग भगवान महावीर स्वामी की ढाई हजार वर्ष पुरानी आचार्य परम्परा के विपरीत सिद्धान्तो का प्रतिपादन व प्रचार करते हैं तथा उस विषय पर समाधान और वार्तालाप के लिये तैयार नही, जिनके कारण जगह-जगह मन्दिरो मे अलग सभायें तथा थोक बनते जा रहे हैं, अशान्ति फैलाने का दोष उन पर है या प्रचलित सिद्धान्तो पर आस्था रखकर इस नये प्रचार के प्रति लोगो को जागरूक रखने वालो पर ?

हमे श्री कानजी स्वामी से कोई द्वेष नही है बल्कि दिगम्बर धर्म के प्रचार के लिये उन्होने जो कार्य किया हम उसकी सराहना करते हैं। जैनधर्म मे वचन की प्रामाणिकता व्यक्ति के त्याग और वीतरागता पर आधारित मानी गई है तब उन महान् आचार्यों के सामने जिनके शास्त्रों के अनेकानेक प्रमाण इस पुस्तक मे विद्यमान है, एक गृहस्थ को उनसे बढ़ कर मान्यता कैसे दी जा सकती है ? धर्मानुसार निर्ग्रन्थ तथा

वीतरागी गुरु होते हैं। अब व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर गृहस्थ का गुरु और सद्गुरु कैसे मान लिया जाय ?

कुछ लोगों का विचार है कि श्री कानजी स्वामी की भाषण शैली, विषय प्रतिपादन का ढंग तथा सोनगढ़ का वातावरण और अनुशासन आकर्षक और बढिया है। मेरी उनसे प्रार्थना है कि जो बातें बढिया हैं वे हमे सीखनी और ग्रहण कर लेनी चाहियें। परन्तु इन कारणो से अपने सिद्धान्तो को भी बिना समाधान पाए यो ही बदल डालना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

हमारी रायमें समाजके वातावरण को बिगाड़ने की बहुत कुछ जिम्मे-वारी उन भावुक भक्तो की भी है जो श्री कानजी स्वामी को लोकोत्तर पुरुष मानते तथा उनके साथ अलौकिक विशेषणों का प्रयोग करके धर्म का रूप बिगाड रहे हैं। उनके इन कामो से समाज पर उल्टा प्रभाव पड़ रहा है क्योकि त्याग और वीतरागता की कसौटी का ऐसा निरादर कैसे उचित कहा जा सकता है ?

प्रस्तुत संस्करण मे मूल पुस्तक के अतिरिक्त मतभेद के सभी विषयो पर भी लेखो का संग्रह किया गया है। सोनगढ़ के विषय मे पर्याप्त सामग्री होते हुए भी उसमे से थोड़ी सी ही यहाँ दी गई है जिससे वहाँ की सही झाँकी पाठको को मिल सकेगी। इस पुस्तक मे जिन-जिन विद्वानो के लेखों का, पत्रो व ग्रन्थो से संग्रह किया गया है अपने उन सब माननीय विद्वानो तथा उन पत्रो व प्रकाशन सस्थाओ के हम हृदय से आभारी हैं।

अन्त मे एक बार हम पुनः यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि इस पुस्तक के प्रकाशन का उद्देश्य मात्र यही है कि लोग सही स्थिति को समझें तथा सोनगढ वाले इन बातों पर गम्भीरता से विचार करके उन कमियों को दूर करें जिससे धर्म का सर्वाङ्गपूर्ण वास्तविक रूप सामने आ सके। समाज मे सब शान्ति चाहते हैं तथा शान्ति का सच्चा मार्ग यही हो सकता है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

प्रस्तावना

संसार में आत्मा को जन्म-मरण, भूख-प्यास आदि के दुख क्यों उठाने पडते हैं, और उन दुखो से ससारी जीव को छुटकारा किस तरह मिलता है, इस आध्यात्मिक विषय को अपनी सर्वज्ञ वीतराग अवस्था में भगवान महावीर ने समवशरण में अपनी दिव्यवाणी द्वारा जैसा जनता को सुनाया हमारे पूर्वज परम उपकारी ऋषियो ने जनसाधारण के हित के लिए उस उपदेश को वैसा ही अपने ग्रन्थों में लिखा तथा उन महाऋषियों ने खुद भी उसका अमल किया।

मूल सघ के सस्थापक आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो में मुख्य रूप से आध्यात्मिक विपय ही प्रतिपादन किया है, उसका कुछ सार नीचे लिखे अनुसार है—

जीव-परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्त , तहेवि जीवोवि परिणमइ ॥८०॥

समयसार

अर्थ—पुद्गल कार्माण द्रव्य ससारी जीव के राग-द्वेष आदि परिणामो के कारण ज्ञानावरण आदि कर्म रूप परिणमन करता है और उन पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से जीव भी राग-द्वेष आदि रूप परिणमन करता है यानी—भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होते हैं।

द्रव्यास्रव और भावास्रव के विषय मे इसी तरह श्री कुन्द कुन्द आचार्य ने समयसार की १६४ तथा १६५ वीं गाथा मे भी कहा है।

उन पुद्गल कर्मों का फल आत्मा को क्या भोगना पड़ता है, इस विषय पर समयसार मे आ० कुन्दकुन्द ने लिखा है—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेण वच्छण्णो ।
ससारसमावण्णो, णवि जाणदि सव्वदो सव्व ॥१६०॥

अर्थ—वह आत्मा यद्यपि स्वभाव से सर्वज्ञाता द्रष्टा है परन्तु उसका वह स्वभाव अपनी कर्म रूपी धूल से ढका हुआ है इसलिये कभी भी वह सब पदार्थों को नही जान पाता ।

सम्मत्तपडिणिबद्ध, मिच्छत्त जिणवरेहि परिकहिद ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णादव्वो ॥१६१॥

अर्थ—आत्मा के सम्यक्त्व गुण का प्रतिबन्धक (रोकने वाला) कारण जिनेन्द्र भगवान ने मिथ्यात्व कर्म बताया है। उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है ।

णाणस्स पडिणिवद्ध, अण्णाण जिणवरेहि परिकहिद ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥१६२॥

अर्थ—आत्मा के ज्ञानगुण का प्रतिबन्धक जिनेन्द्रदेव ने ज्ञानावरण कर्म कहा है । उस ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव अज्ञानी (अल्पज्ञानी) होता है । ऐसा समझना चाहिये ।

चारित्तपडिणिबद्ध कसाय जिणवरेहि परिकहिद ।
तस्सोदयेण जीवो, अचरित्तो होदि णादव्वो ॥१ ३ ।

अर्थ—आत्मा के चारित्र गुण का प्रतिबन्धक जिनेन्द्र भगवान ने कषाय (मोहनीय) कर्म बतलाया है, उसके उदय से आत्मा चारित्र रहित होता है ।

आऊदयेण जीवदि, जीवो एव भणति सव्वण्हू ।२५ ॥
आउक्खयेण मरण जीवाण जिणवरेहि पण्णत्त ॥२४८,।

अर्थ ससारी जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते है । और आयु कर्म के क्षय (समाप्त) होने से जीवो का मरण होना जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया है ।

कम्मोदयेण जीवा, दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ॥२५४।

अर्थ—ससारी जीव कर्म (साता असाता वेदनीय) के उदय से सुखी दुखी है।

इस तरह श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने ससार-भ्रमण का, जीव के मिथ्यात्व, अज्ञान असयम का, सुख दुख का, जन्म-मरण का निमित्त कारण ज्ञानावरण, वेदनीय, मोहनीय आदि द्रव्यकर्म बतलाये है और उन द्रव्यकर्मो के आस्रव और बन्ध के निमित्त कारण ससारी जीव के राग द्वेष आदि विकारभाव बतलाये है।

कर्मो से छूटने का उपाय भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नीचे लिखे अनुसार अपने विभिन्न आध्यात्मिक ग्रन्थो में सक्षेप से बतलाया है।

सम्यग्दर्शन

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो, उदययरो भव्वजीवाण। २५। बो० पा०

अर्थ—भव्य जीवो का कल्याण करने वाला दयामय धर्म, समस्त परिग्रहरहित मुनिचर्या और वीतराग देव है।

हिसारहिये धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिये देवे।
णिग्गथे पव्वयणे, सद्दहण होइ सम्मत्त ॥९०। मो० पा०

अर्थ—अहिसामय धर्म के अठारह दोषरहित देव के और निर्ग्रन्थ गुरु के श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है।

सम्मत्तस्स णिमित्त, जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अतरहेओ भणिया, दसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३। नि सार

अर्थ—सम्यक्त्व होने का निमित्त कारण जिनवाणी तथा उनके ज्ञाता आचार्य आदि है और सम्यक्त्व का अन्तरग कारण दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम आदि है।

जिनबिबदसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदसणादो।

—धवल सिद्धान्त पुस्तक ६ पृष्ठ ४२७-४२८

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का दर्शन करने से निद्धत तथा निकाचित रूप भी मिथ्यात्व आदि कर्म समूह का क्षय हो जाता है ·

सारांश यह है कि देवदर्शन, शास्त्र श्रवण गुरु उपदेश से, देव गुरु शास्त्र की तथा दया अहिंसामय धर्म की श्रद्धा करने से दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो जाने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है।

सम्यक्-चारित्र

सम्यग्दर्शन हो जाने पर जब तक सम्यक् चारित्र नहीं होता तब तक आत्मा ससार से मुक्त नहीं होता। इसलिए सम्यग्दृष्टि को अणुव्रत, महाव्रत तप, त्याग, सयमादि रूप चारित्र धारण करना आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि तीर्थकरो को तथा सर्वार्थसिद्धि के देवो को एव लौकान्तिक देवो आदि को अतिम मनुष्य भव चारित्र के लिए ही धारण करना पडता है।

इस विषय मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते है।

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे। २३।। सू०पा०

अर्थ—जैन शासन मे वस्त्रधारी (निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा न लेने वाला) यानी असयमी तीर्थकर भी मुक्ति नही पा सकता।

धुवसिद्धी तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरण।
णाऊण धुव कुज्जा, तवयरण णाणजुत्तोवि ।६०। मो पा

अर्थ– तीर्थकर को उसी भव से मुक्ति मिलना निश्चित होता है फिर भी वे चार ज्ञानधारक होकर भी तपश्चरण करते हैं। ऐसा जान कर ज्ञानी पुरुष को भी तपस्या अवश्य करनी चाहिए। (मुनि दीक्षा लेते ही तीर्थकर को मनपर्यय ज्ञान हो जाता है, तीन ज्ञान उनको जन्म से होते ही हैं)

धम्मादीसद्दहणं, सम्मत्तं णाणमगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तव हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥
—पचास्तिकाय

अर्थ—धर्म आदि द्रव्यो का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। अग पूव सिद्धान्त का बोध सम्यग्ज्ञान है और तपश्चरण करना चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

दाण पूजा मुक्ख, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।
—रयणसार

अर्थ दान देना और पूजा करना गृहस्थ श्रावक का मुख्य धर्म है। दान पूजा के बिना श्रावक नही होता।

दुविह सजमचरण, सायार तह अणायार ।
सायार सग्गथे, परिग्गहरहिये णिरायार ॥२१। चा पा

अर्थ—सयम चारित्र दो तरह का है-१–सागार (अणुव्रती गृहस्थ) २ अनागार। परिग्रहधारी गृहस्थ का चारित्र सागार है और परिग्रहरहित मुनि का अनागार चारित्र है।

भाव तिविहपयार, सुहासुह सुद्धमेव णायव्व
असुह च अट्टरुद्द, सुह धम्म जिणवरिंदेहि ॥७६॥ मो पा

अर्थ—जीव के भाव तीन तरह के होते हैं–१ अशुभ, २–शुभ, ३–शुद्ध। आर्त, रौद्र ध्यान के परिणाम अशुभ भाव है, शुभ भाव धर्म रूप होते है।

अधर्म-कर्म-निर्मुक्ति धर्मकर्मविनिर्मिति ।
चारित्र तच्च सागारानगारयतिसश्रयम् । २६२॥
उपासकाध्ययन

अर्थ—बुरे कर्मों से बचना और अच्छे कर्मो में लगना चारित्र है। वह चारित्र गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का है।

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयम् ।
हितमाद्यमनुष्ठेय शेषत्रयमथाहितम् ॥२३६॥
(आत्मानुशासन)

अर्थ—शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप, सुख और दुःख ये छह हुए। इनके तीन युगल है। प्रत्येक युगल के आदि का अर्थात् शुभ, पुण्य और सुख हितकारक और आचरण के योग्य है। शेष तीन अर्थात् अशुभ पाप और दुःख अहितकारक है।

वर वयतवेहि सग्गो मा होउ निरय इयरेहि ।
छायातवट्ठियाण पडिलबाण गुरु भेय ॥२५॥ मो० पा०

अर्थ—व्रत तप आदि द्वारा स्वर्ग जाना अच्छा है। पाप आदि अशुभ क्रिया से नरक जाना अच्छा नही है। जसे कि धूप मे खडे होने वाले और छाया मे खडे होने वालो मे परस्पर बहुत अन्तर है। यानी–गर्मी के समय धूप मे खडे होने वाले मे छाया में खडे होने वाला अच्छा है।

चारित्र धारण करने की प्रेरणा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने और भी बहुत सी गाथाओ द्वारा चारित्र पाहुड मे विस्तार से की है।

दया धर्म है

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वजा सव्वसगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाण ॥२५॥
(भगवान् कुन्दकुन्द कृत बोध पाहुड)

अर्थ–धर्म है सो तो दया करि विशुद्ध है, बहुरि प्रव्रज्या है सो सर्व परिग्रह रहित है। बहुरि देव है सो नष्ट भया है मोह जाका ऐसा है सो ये भव्य जीवनि के उदय का (मनोरथ पूर्ण अथवा मोक्ष सुख) करने वाले है।

धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद्द्विधा च त्रय
रत्नाना परम तथा दशविधोत्कृष्टसमादिस्तत: ।
मोहोद्भूत विकल्पजालरहिता वागङ्गसगोज्झिता
शुद्धानन्दमयात्मन परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥७॥
(पद्मनन्दि पच विशति)

अर्थ—प्राणियों के ऊपर दया भाव रखना यह धर्म का स्वरूप है। वह धर्म गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नत्रय के भेद से तीन प्रकार का है उत्तम क्षमा आदि के भेद से दस प्रकार का है। मोह के निमित्त से होने वाले मानसिक विकल्प समूह से तथा वचन एव शरीर के ससर्ग से भी रहित जो शुद्ध आनन्दरूप आत्मा की परिणति होती है उसे भी धर्म' इस नाम से कहा जाता है।

आद्या सद्व्रतसचयस्य जननी सौख्यस्य सत्सपदा
मूल धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनि श्रेणिका।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकै
धिङ् नामाप्यदयस्य तस्य च पर सर्वत्र शून्या दिश ॥८॥
(पद्मनन्दि पर्चाविशति)

अर्थ—यहा धर्मात्मा सज्जनों को सबसे पहिले प्राणियो के विषय में नित्य ही दया करनी चाहिये क्योंकि ये दया समीचीन व्रतसमूह, सुख मोक्षसुख) एव उत्कृष्ट सम्पदाओ की मुख्य जननी अर्थात् उत्पादक है। धर्मरूपी वृक्ष की जड है, तथा अविनश्वर पद अर्थात् मोक्ष महल पर चढने के लिये अपूर्व नसैनी का काम करती है। निर्दय पुरुष का नाम लेना भी निन्दाजनक है, उसके लिये सर्वत्र दिशाये शून्य जैसी है।

भावार्थ– जिस प्रकार जड के बिना वृक्ष की स्थिति नही

रहती है उसी प्रकार प्राणिदया के बिना धर्म की स्थिति भी नही रह सकती।

येषा जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते ।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषा धर्म. कुतो भवेत् ॥४३३॥

(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ––जिन भगवान् के उपदेश से दयालुतारूप अमृत से परिपूर्ण जिन श्रावको के हृदय मे प्राणिदया आविर्भूत नही होती है उनके धर्म कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता है।

मूल धर्मतरोराद्या व्रताना धाम सपदाम् ।
गुणाना निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभि ॥४३४॥

(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ–प्राणी-दया धर्मरूपी वृक्ष की जड है व्रतो मे मुख्य है, सम्पत्तियो का स्थान है और गुणो का भण्डार है इसलिये विवेकीजनो को प्राणि-दया अवश्य करनी चाहिए।

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे ।
सूत्राधारा प्रसूनाना हाराणा च सरा इव ॥४३५॥

(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ–मनुष्य मे सब ही गुण जीवदया के आश्रय से इस प्रकार रहते है जिस प्रकार कि पुष्पो की लडिया धागे के आश्रय से स्थिर रहती है।

यत्स्यात् प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहायनम् ।
सा हिसा रक्षण तेषामहिसा नु सता मता ।३१८॥

(उपासकाध्ययन)

अर्थ–प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राण का घात करना हिसा है और उनकी रक्षा करना अहिसा है।

एका जोवदयैकत्र परत्र सकला क्रिया:

अर्थ – अकेली जीवदया एक ओर है और शेष सब कियाएं दूसरी ओर है। अर्थात् अन्य सब क्रियाओ से जीवदया श्रेष्ठ है। अन्य सब क्रियाओ का फल खेती की तरह है और जीव दया का फल चितामणि की तरह है।

धर्मो नाम कृपामूल सा तु जावानुकम्पनम्।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिक लक्षणम् ॥५-२५॥
(क्षत्र चूडामणि)

अर्थ—धर्म का मूल दया है और वह दया जीवो की अनुकम्पारूप है। अत अरक्षित प्राणियो की रक्षा करना धर्मात्मा का लक्षण है।

दयादमत्यागसमाधिसन्तते. पथि प्रयाहि प्रगुण प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्य वचसामगोचर विकल्पदूर परमं किमप्यसौ ॥१०७॥
(आत्मानुशासन)

अर्थ—हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरलभाव से दया इन्द्रिय दमन, दान और ध्यान को परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय है और समस्त विकल्पों से रहित है।

धम्मो वत्थु-सहावो खमादि-भावो य दस-विहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो जीवाण रक्खणं धम्मो ॥४७८॥
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमादि भावों को धर्म कहते हैं। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं। **जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।**

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।'
(धवल पु० १३ पृ० ३६२)

अर्थ - क्योकि करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित मानने में विरोध आता है।

इस प्रकार दि० जैन आगम में दया को धर्म और करुणा को जीव स्वभाव हमारे पूर्व महान् आचार्य श्री १०८ कुन्दकुन्द वीरसेन स्वामी आदि ने कहा है। किन्तु जो अपने पूर्व सस्कार के वश दया को धर्म नहीं मानते तथा मात्र बध व ससार का ही कारण मानते है वे दिगम्बर जैन आगम की अवहेलना करने वाले है।

दान

सन्त सर्वसुरासुरेन्द्रमहित मुक्ते पर कारण
रत्नाना दधति त्रय त्रिभुवनप्रद्योति काये मति।
वृत्तिस्तस्य यदन्नत परमया भक्त्यार्पिताज्जायते
तेषा सद्गृहमेधिना गुणवता धर्मो न कस्य प्रिय ॥१॥
(पद्मनन्दि पचविशति)

अर्थ—जो रत्नत्रय समस्त देवेन्द्रो एव असुरेन्द्रो से पूजित है, मुक्ति का अद्वितीय कारण है तथा तीनो लोको को प्रकाशित करने वाला है उस रत्नत्रय को साधुजन शरीर के स्थित रहने पर ही धारण करते है। उस शरीर की स्थिति उत्कृष्ट भक्ति से दिये गये अन्न से रहती है। उन गुणवान् सद्गृहस्थो का धर्म भला किसे प्रिय न होगा ? अर्थात् सभी को प्रिय होगा।

मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके
तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात्।
तद्दीयते च गृहिणा गुरुभक्तिभाजा
तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्ग ॥
(पद्मनन्दि पचविशति २-१२)

लोक मे मोक्ष के कारणीभूत जिस रत्नत्रय की स्तुति की

जाती है, वह रत्नत्रय मुनियो के द्वारा शरोर की शक्ति से धारण किया जाता है, शरीर को शक्ति भोजन से प्राप्त होती है और वह भोजन अ तशयभक्ति से सयुक्त गृहस्थ के द्वारा दिया जाता है। इसी कारण वास्तव मे उ । म क्षमार्ग को गृहस्थजनों ने धारण किया है।

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुट
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकै.
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते॥ ६६॥

(पद्मनन्दि पचविशति)

अर्थ—सब प्राणी सुखकी इच्छा करते हैं वह सुख स्पष्टतया मोक्ष में है वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रय के होने पर ही सिद्ध होती है। वह रत्नत्रय दिगम्बर साधु के होता है। उक्त साधु की स्थिति शरोर के निमित्त से होती है, उस शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है और वह भोजन श्रावकों के द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त काल मे भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्राय उन श्रावको के निमित्त से हो रही है।

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रयमडण।
रयणासेण य णाण णाणे मुक्खो जिणो भणई॥५२१॥

(भाव सग्रह)

अर्थ—आहार ग्रहण करने से शरीर की स्थिति रहती है, शरीर की स्थिति रहने से तपश्चरण होता है। तपश्चरण से ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों का नाश होता है। ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मो के नाश होने से उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है और उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भोयण-दाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।
भुक्ख-तिसाए वाहि दिणे दिणे होंति देहीण ॥३६३॥
भोयण-बलेण साहू सत्थ सेवेदि रत्ति-दिवस पि।
भोयण-दाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ॥३६४॥
(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—भोजन दान देने पर तीनों ही दान हो जाते है क्योंकि प्राणियो को भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है। भोजन के बल से ही साधु रात दिन शास्त्र का अभ्यास करता है और भोजन दान देने पर प्राणों की भी रक्षा होती है।

सिव दा-वय च तिदिय तस्स हवे सव्व सिद्धि-सोक्खयर।
दाण चउव्विह पि य सव्वे-दाणाण सारयर ॥३६५॥
(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—यह चार प्रकार का दान सब दानो मे श्रेष्ठ है और मोक्ष के सब सुखो का करने वाला है। जो दान देता है उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है।

भक्ति

सर्व प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात्
सद्वृत्तात् स च तच्च बोधनियत सोऽप्यागमात् स श्रुते।
सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेऽप्यत
त युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखद सन्तः श्रयन्तु श्रिये ॥९॥
(आत्मानुशासन)

अर्थ—सब प्राणी शीघ्र ही यथार्थ सुख को प्राप्त करने की इच्छा करते है। सुख की प्राप्ति समस्त कर्मो का क्षय होने पर होती है। कर्मो का क्षय सम्यग्व्रतो से होता है। वे व्रत सम्यग्ज्ञान के अधीन है। सम्यग्ज्ञान आगम से प्राप्त होता है। आगम श्रुत से होता है। श्रुत उस आप्त से होता है जो रागादि समस्त दोषों से रहित हो। इसलिये सुख के मूल कारण भूत आप्त (देव)

की परीक्षा पूर्वक विचार करके सज्जन बाह्य एवं अभ्यन्तर लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण सुख देने वाले उस आप्त (देव) का आश्रय करे अर्थात् भक्ति करे।

सर्वागमावगत खलु तत्त्वबोधो,
मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं नः।
जाड्यात्तथाकुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव
देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ।८७१।
(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ - हे देव ! मुक्ति का कारणीभूत जो तत्त्वज्ञान है, वह निश्चयतः समस्त आगम के जान लेने पर प्राप्त होता है सो वह जड बुद्धि होने से हमारे लिये दुर्लभ है। इसी प्रकार उस मोक्ष का कारणीभूत जो चारित्र है वह भी शरीर की दुर्बलता से इस समय हमें नहीं प्राप्त हो सकता है। इस कारण आप के विषय मे जो मेरी भक्ति है वही क्रम से मुझको मुक्ति का कारण होवे।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठहरा सेस मोह तिमिरेण।
तह णट्ठं जइ दिट्ठ जहट्ठिय त मए तच्च ।।७४३।।
पद्मनन्दि पच विशति)

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर दर्शन मे बाधा पहुँचाने वाला समस्त मोह (दर्शन मोह) रूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया कि जिससे मैने यथावस्थित तत्त्व को देख लिया है (अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया है)।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दट्ठ व्वावहि विसेसरूवम्मि।
दसण सुद्धीए गय दाणि मह णत्थि सव्वत्थ ।।७६०।।
(पद्मनन्दि पचविंशति)

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! देखने योग्य पदार्थों के सीमा विशेष

स्परूप सर्वाधिक दर्शनीय, आपका दर्शन होने पर जो दर्शन विशुद्धि हुई है उससे इस समय यह निश्चय हुआ है कि सब बाह्य पदार्थ मेरे नही है।

एकापि समर्थय जिनभक्तिर्दुर्गति निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितु दातु मुक्तिश्रिय कृतिन ॥१५५॥

(उपासकाध्ययन)

अर्थ-अकेली एक जिन-भक्ति ज्ञानी के दुर्गति का निवारण करने मे, पुण्य का सचय करने मे और मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने मे समर्थ है।

भत्तीए जिणवराण खीयदि ज पुव्वसचिय कम्म।
आयरिय पसाएण य बिज्जा मता य सिज्झति ॥८१॥

(मूलाचार अधिकार ७)

अर्थ-जिनेश्वर की भक्ति से पूर्व-सचित कर्म का नाश होता है और आचार्यो की कृपा से विद्याओ और मन्त्रो की सिद्धि होती है।

सिद्धाण णमोक्कार भावेण य करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावई अचिरेण कालेण ॥६॥

(मूलाचार अधिकार ७)

अर्थ--जो नम्रमति (भक्त) भाव पूर्वक सिद्धो को नमस्कार करता है वह शीघ्र सर्व दुखों से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त हो जाता है।

साहूण णमोक्कार भावेण य जो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावई अचिरेण कालेण ॥१६॥

(मूलाचार अधिकार ७)

अर्थ--जो नम्रमति (भक्त) भाव से साधु परमेष्ठिओं को नमस्कार करता है वह शीघ्र सम्पूर्ण दुःखो से मुक्त (मोक्षसुख को प्राप्त) होता है।

त देवदेवदेव जदिवरवसह गुरु तिलोयस्स ।
पणमति जे मणुस्सा ते सोक्ख अक्खय जति ।।६।।

(प्रवचनसार रायचन्द ग्रन्थमाला पृ० `००)

अर्थ - देवाधिदेव-यतिवर वृषभ और तीन लोक के गुरु अर्थात् ऐसे भगवान को जो मनुष्य प्रणाम करते है वे अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त होते है ।

समस्त पदार्थ **अपने प्रतिपक्ष सहित उपलब्ध होते है ।**

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणतपज्जाया ।
भगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ।।८।।

पचास्तिकाय)

अर्थ—सत्ता उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, एक, सर्वपदार्थ मे स्थित सविश्वरूप अनन्तपर्यायमय है और प्रतिपक्ष सहित है ।

इस गाथा द्वारा श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने यह सिद्धान्त घोषित किया है कि 'सर्व पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित हैं ।

जय धवल पुस्तक पृ० ५३ पर इस गाथा को उद्धृत करते हुए श्री १ ८ वीरसेन स्वामी ने लिखा है 'समस्त पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित उपलब्ध होते है । इसलिये भी अचेतन पदार्थ के अस्तित्व से अचेतन पदार्थ के प्रतिपक्षी चेतन पदार्थ की सिद्धि हो जाती है ।'

श्रीमान प० फूलचन्दजी व प० कैलाशचन्दजी ने भी अपने विशेषार्थ मे पृ० ५४ पर लिखा है कि 'इससे (पचास्तिकाय गाथा ८ से) निश्चित होता है कि पदार्थ अपने प्रतिपक्ष सहित है ।

इस सिद्धान्त के अनुसार 'नियति पर्याय' का या 'क्रमबद्ध-पर्याय' का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर उनके प्रतिपक्षी 'अनियत पर्याय' व 'क्रमअबद्ध पर्याय' का अस्तित्व सहज सिद्ध हो जाता है ।

पंचास्तिकाय गाथा ८ को उद्धृत करते हुए धवल पुस्तक १४ पृ० २३३-३४ पर श्री १०८ वीरसेन आचार्य ने कहा है कि 'संसार में भव्य जीवों का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उनका अभाव होने पर अभव्य जीवों का भी अभाव प्राप्त होता है और अभव्यों का भी अभाव नहीं है, क्योंकि उनका अभाव होने पर संसारी जीवों का अभाव प्राप्त होता है और यह भी नही है, क्योंकि ससारी जीवो का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीवों के भी अभाव का प्रसग आता है। 'संसारी जीवो का अभाव होने पर असंसारी (मुक्त) जीव भी नही हो सकते, क्योंकि सब प्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा नही बन सकती।'

इसी प्रकार यदि 'अनियत पर्याय' या क्रम अबद्धपर्याय' के अभाव में 'नियत पर्याय' या क्रमबद्ध पर्याय' का भी अभाव हो जायगा। 'प्रतिपक्षी के अभाव मे विवक्षित के भी अभाव का प्रसग प्राप्त होता है।' (धवल पु० ६ पृ० ६३)

इस अनियत पर्याय (क्रम अबद्ध पर्याय) की दृष्टि से श्रीमान् पं० फूलचन्द जी ने आज से १३ वर्ष पूर्व तत्त्वार्थ सूत्र की अपनी टीका मे इस प्रकार लिखा है—एक ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक कार्य का काल नियत है, उसी समय वह कार्य होता है अन्य काल में नहीं। जो ऐसा मानते है वे काल के सिवा अन्य निमित्तों को नहीं मानते। पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका ऐसा मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योकि कार्य की उत्पत्ति मे जैसे काल एक निमित्त है, वैसे अन्य भी निमित्त है। अत: कार्य की उत्पत्ति मे केवल काल को प्रधान कारण मानना उचित नही है। (पृ० ८)

किसी मनुष्य ने तिर्यचायु का पूर्व कोटि वर्षप्रमाण स्थिति बंध किया। अब यदि उसे स्थिति घात के अनुकूल सामग्री जिस

पर्याय में आयु का बध किया है, उसी पर्याय में मिल जाती है तो उसी पर्याय मे वह आयु कर्म का स्थिति-घात कर सकता है और यदि जिस पर्याय में आयु को भोग रहा है उसमें स्थिति-घात के अनुकूल सामग्री मिलती है तो उस पर्याय में आयु कर्म का स्थिति घात कर सकता है। स्थिति-घात होने से आयु कम हो जाती है (पृ० १२६)।

जो कारण स्वय कार्यरूप परिणम जाता है वह उपादान कारण कहलाता है। किन्तु ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण और निमित्त कारण इन दो के मेल से होता है, केवल एक कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। **छात्र सुबोध है, पर अध्यापक या पुस्तक का निमित्त न मिले तो वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ उपादान है किन्तु निमित्त नहीं इसलिए कार्य नहीं हुआ।** छात्र को अध्यापक या पुस्तक का निमित्त मिल रहा है पर वह मन्द-बुद्धि है, इसलिये भी वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ निमित्त है किन्तु उपादान नही इसीलिये कार्य नहीं हुआ (पृ० २१८)।

इस प्रकार श्रीमान् प० फूलचन्द्र जी ने सोनगढ के एकान्त क्रमबद्ध-पर्याय-सिद्धान्त का स्वय खडन किया है। किन्तु जैन तत्त्वमीमासा पुस्तक में जो कुछ भी लिखा गया है वह उनकी उक्त मान्यता के विरुद्ध है। अर्थ से क्या-क्या अनर्थ नही होते !

जिस केवलज्ञान के आधार पर आज एकान्त-नियत-पर्याय को सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है उस केवल ज्ञान के विषय मे श्री १०८ वीरसेन महानाचार्य ने धवल पुस्तक १ के मगलाचरण में लिखा है 'केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णयतिमिर जिण णमह।' अर्थ—'जिन्होने केवल ज्ञान सूर्यप्रभा पुंज से कुनय

रूप अंधकार को जीत लिया है।' जो केवलज्ञान कुनय (एकान्त) अंधकार का नष्ट करने वाला है क्या उस केवलज्ञान से एकान्त नियत पर्याय (एकान्त-क्रम-बद्ध पर्याय) का सिद्धान्त फलितार्थ हो सकता है? नियत पर्याय (क्रमबद्ध पर्याय) यदि अपने प्रति-पक्षी अनियत-पर्याय (क्रम-अबद्ध-पर्याय) की सापेक्ष है तो सुनय सम्यगेकान्त) है, अन्यथा दुर्नय (मिथ्या-एकान्त) है।

पूर्व संस्कार-वश जो इन आगम वाक्यों की उपेक्षा करके किसी भी अपेक्षा से दया दान भक्ति को धर्म स्वीकार नही करता और निमित्त कारण को स्वीकार नही करता तथा एकान्त नियतिवाद का उपदेश देता हो वह दिगम्बर जैन सिद्धान्त का श्रद्धालु कैसे हो सकता है?

जो व्यक्ति अपने आपको श्री कुन्दकुन्द आचार्य का श्रद्धालु भक्त कहता तथा समझता है उसको कुन्दकुन्द आचार्य के लिखित सिद्धान्त-अनुसार निश्चय-व्यवहारनय मे, नियत अनियत पर्याय मे (पर समय आत्मा अनियत गुण पर्याय वाला होता है। गाथा १५५ पंचास्तिकाय) एकातवादी न बनना चाहिए। जैसा आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार चारित्र को मुक्ति कारण समझ कर उसका आचरण किया उसी तरह उसके श्रद्धालु भक्त को भी यथाशक्ति चारित्र पालन करना चाहिए। शारीरिक मोह और इन्द्रियों की लालसा पूर्ति के लिये यदि वह चारित्र धारण न कर सके, तो व्यवहार चारित्र की निन्दा करके जनता को तो भ्रम मे न डाले।

—रतनचन्द्र जैन मुख्तार

सहारनपुर

प्राक् वक्तव्य

पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है

धर्म की परिभाषा, व्याख्या और भाव जैन शास्त्रो मे यथा-स्थान मौजूद है। जिन्होंने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का क्रम से पारायण किया है वे उन सभी परिभाषाओं का अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय करके धर्म की वास्तविकता को समझते है, परन्तु जिनका उस प्रकार से क्रम-बद्ध स्वाध्याय नही है और 'पल्लवग्राही पाण्डित्य' के बल पर शास्त्रीय शब्दों का अर्थ करते-कराते हैं, वे स्वय तो भूलते ही हैं, साथ ही दूसरों को भी भुलाते हैं। धर्म को लेकर आज कल यही हो रहा है। यहाँ हम अपनी ओर से कुछ न लिख कर धर्म की व्याख्या के विषय मे आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द, जिनके समयसार के नाम पर व्रतादिरूप पुण्याचरण को विष्ठा की उपमा दी जाती है, धर्म की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :—

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो, उदयकरो भव्वजीवाणं ॥बो० पा०॥

जिसमें विशुद्ध दया है वह धर्म है, जिसमे सर्व परिग्रह का त्याग है, वह दीक्षा है, जो मोह रहित है वह देव है। उनसे भव्य जीवों का कल्याण होता है।

दसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेंहि सिस्साणं।
तं पोऊण सकण्णे, दंसणहीणो ण वदिव्वो ॥ द० पा०॥

धर्म दर्शन—(सम्यग्दर्शन) मूलक होता है, ऐसी जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। अपने कान से उसे सुनकर दर्शनहीन की वन्दना नहीं करना चाहिये।

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणिय।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसपजुत्तेहिं ॥ द्वा० अ० ॥

गृहस्थो का दर्शनपूर्वक ग्यारह प्रतिमा रूप और मुनियो का दश भेद रूप धर्म उत्तम सुखसम्पन्न जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

वदसमिदिपालणाए दडच्चाएण इंदियजएण।
परिणममाणस्स पुणो सजमधम्मो हवे णियमा ॥

व्रत समिति का पालन करना, मन-वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति रोकना, इन्द्रियो का जीतना सयम धर्म है।

दाण पूजा मुक्ख सावयधम्मो ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्ख जइधम्मे त विण तहा सोवि ॥र०सा०॥

दान देना, पूजा करना मुख्य श्रावक धर्म है, उसके बिना कोई श्रावक नही हो सकता। ध्यान स्वाध्याय करना मुनियों का मुख्य धर्म है उसके बिना उसी प्रकार कोई मुनि नही हो सकता।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥प्र०सा०॥

चारित्र ही धर्म है, धर्म साम्यभाव कहा गया है। मोह और क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम साम्यभाव कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा उल्लिखित इन धर्म की परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा का क्रियारूप आचरण और राग द्वेष की निवृत्ति दोनों ही धर्म है। वे जिस प्रकार राग-द्वेष

रहित साम्यभाव को धर्म कहते हैं उसी तरह प्रशस्तराग रूप दान पूजा व्रत समिति आदि को भी धर्म कहते हैं। यह प्रशस्त राग पुण्य रूप आचरण है। अतः कुन्दकुन्दाचार्य पुण्य को भी धर्म मानते हैं। इस पुण्य को मलमूत्र कहना तत्त्व से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

इस विषय में अन्य आचार्यों का भी अभिप्राय देखिये—

जइ मणइ को वि एव गिहवावारेसु वट्टमाणो वि।
पुण्णे अम्ह ण कज्ज जं संसारे सुवाडेई ॥ भाव सग्रह ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि घर के कार्य करते हुए भी हमे पुण्य से कोई प्रयोजन नही है क्योकि वह ससार-भ्रमण का कारण है।

तो उसका यह कहना ठीक नही है।

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवलक्खसुहमजीवाइ।
इय जिणवरेहि भणिय वज्झतरणिग्गंथरूवेहिं ॥ भा० स० ॥

शास्त्र में लिखा है कि गृहस्थ मैथुन करने मे न दिखाई देने वाले अनेक सूक्ष्म जन्तुओं का विनाश करता है।

गेहे वट्टत्तस्स य वावारसयाइ सया कुण तस्स।
आसवइ कम्ममसुहं अट्टरउद्दे पवत्तस्स ॥ भा० स० ॥

सदा घर के अनेक काम करता हुआ गृहस्थ आर्त, रौद्र-ध्यान में प्रवृत्त होकर अशुभ कर्मो का आस्रव करता है।

जह गिरवई तलाए अणवरय पविसए सलिलपरिपुण्णे।
मणवयतणुजोएहि, पवसइ असुहेहि तह पाव ॥भा० सं०॥

जिस तरह जल से भरे सरोवर में पर्वत का पानी निरन्तर प्रवेश करता रहता है उसी तरह अशुभ मन, वचन, काय योगो से पाप कर्मों का आस्रव होता रहता है।

जाम ण छंडइ गेह ताम ण परिहरइ इंतयं पाव ।
पाव अपरिहरतो हेओ पुण्णस्स मा चयऊ ।। भा० स०।।

इसलिए जब तक यह जीव घर नहीं छोड़ता तब तक उसका पाप दूर नही होता। इसलिए पाप का परिहार हुए बिना इसे पुण्य करना नही छोड़ना चाहिए।

आमुक्क पुण्णहेउ पावस्सासव अपरिहरतो य ।
वज्झइ पावेण णरो सो दुग्गइ जाइ मरिऊण ।। भा० स० ।।

यदि पापास्रव को दूर किये बिना पुण्य के कारणो को छोड़ देता है तो वह पाप कर्म का बन्ध करेगा और मर करके दुर्गति को जावेगा।

पुण्णस्स कारणाइ पुरिसो परिहरउ जेण णिय चित्तं ।
विसयकसाय पउत्तं णिग्गहिय हयपमाएण ।। भा० सं० ।।

पुण्य के कारण उसी पुरुष को छोड़ने चाहिए जिसने प्रमाद रहित होकर विषय कषायो मे प्रयुक्त मन का निग्रह कर लिया हो।

गिहवाबारविरत्तो गहिय जिणलिंग रहियसपमाओ ।
पुण्णस्स कारणाइं परिहरउ सयावि सो पुरिसो ।।भा० सं०।।

जो घर के कामो से विरक्त है, जिसने जिनदीक्षा ग्रहण की है, जो प्रमाद रहित है, वह पुण्य के कारणो का त्याग करे।

असुहस्स कारणेहि य कम्मच्छक्केहि णिच्च वट्टतो ।
पुण्णस्स कारणाइ बंधस्स भयेण णेच्छतो ।। भा० स० ।।
ण मुणइ इय जो पुरिसो जिणकहिय पयत्थणवसरूवं तु ।
अप्पाण सुयणमज्झे हासस्स य ठाणय कुणई ।। भा० सं० ।।
अर्थ—अशुभ कर्मबन्ध के कारणभूत छह काय के जीवों की

विराधना द्वारा कर्मबन्ध करता हुआ बन्ध के भय से जो पुण्य के कारणों को नहीं चाहता, वह मनुष्य जिनेन्द्रकथित नव पदार्थों के स्वरूप को न मानने वाला सज्जनो के बीच में अपने को हँसी का पात्र बनाता है।

पुण्णं पुव्वाचरिया दुविह श्रक्खति सुत्त उत्तीए।
मिच्छपउत्तेण कयं विवरीय सम्मजुत्तेण ॥ भा० सं० ॥

अर्थ—पूर्वाचार्यो ने आगम के अनुसार पुण्य दो प्रकार का बताया है, एक मिथ्यात्वसहित पुण्य, दूसरा सम्यत्वसहित पुण्य।

मिच्छादिट्ठी पुण्ण फलइ कुदेवेसु कुणरतिरियेसु।
कुच्छियभोगधरासु य कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ भा० सं० ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि का पुण्य नीच देवों में, नीच मनुष्यों में तिर्यंचो मे फलता है तथा कुपात्रदान से कुभोगभूमि प्राप्त होती है।

सम्मादिट्ठी पुण्ण, ण होइ ससारकारण णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउ जइवि णियाण ण सो कुणइ ॥भा०सं०॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि यदि निदान (आगामी सांसारिक सुखों की इच्छा) न करे तो मोक्ष का ही कारण है।

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि मनुष्य मर कर देवो मे उत्पन्न होता है, वहाँ विविध प्रकार के भोगो को भोग कर आयु के क्षय होने के बाद उत्तम मनुष्य कुल मे जन्म लेता है। वहाँ पर भी मनुष्य क्षेत्र के अनुपम सुख भोग कर संयम धारण करता है और उस दीर्घकालीन पुण्य के प्रभाव से केवल ज्ञान तथा यथाख्यात संयम को प्राप्त कर नियम से सिद्ध हो जाता है।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्ण चायरउ जत्तेण ॥ भा० सं० ॥

अर्थ—इसलिये सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, ऐसा जानकर गृहस्थ को प्रयत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करना चाहिए।

पुण्णस्स कारण फुड्ड पढम ता हवइ देवपूजा य।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाए ॥ भा० स० ॥

अर्थ—पुण्य का कारण पहला देव-पूजा है, श्रावकवर्ग को इसे परम भक्ति से करना चाहिए।

उक्त सब प्रकरण आचार्य देवसेन के भावसग्रह से उद्धृत हैं, ये देवसेन वे ही हैं जिन्होंने अपने दर्शनसार मे कुन्दकुन्द आचार्य के दिव्यज्ञान की प्रशसा करते हुए उनके उपकार को स्मरण किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से मुक्ति का कारण है और ऐसा न मानने वाला क्या हँसी का पात्र नही है ? हम नही समझते कि आचार्य देवसेन से अधिक श्री कुन्दकुन्द को समझने वाला आज कोई व्यक्ति है।

शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति इसी पुण्य कर्म से होती है, इसके और प्रमाण देखिये—

जिनेशस्य स्नानात् स्तुतियजनजपान्मन्दिरार्चाविधाना—
च्चतुर्धादानाद्वाध्ययनखजयतो ध्यानतः संयमाच्च।
व्रताच्छीलात्तीर्थादिकगमनविधे क्षान्तिमुख्यप्रधर्मात्,
क्रमाच्चिद्रूपाप्ति र्भवति जगति ये वाछकास्तस्य तेषाम् ।१।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करने से, उनकी स्तुति पूजा जप करने से, शास्त्रो का अध्ययन करने से, इन्द्रियो के जीतने से, ध्यान करने से, सयम से, व्रत से, शील से, तीर्थादि की यात्रा करने से, उत्तम क्षमा आदि धर्मों के पालने से शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति होती है।

गृहिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं षट्कर्मपालने ।
व्रतागीकरणे पश्चात् संयमग्रहणे तत ।।
यतिभ्यो दीयते शिक्षा पूर्वं संयमपालने ।
चिद्रूपचिन्तने पश्चादयमुक्तो बुधै.क्रम: ।। त० ज्ञा० त० ।।

अर्थ—गृहस्थ को पहले षट् कर्म (देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, दान आदि छह पुण्य कार्य) पालन की शिक्षा दी जानी चाहिये, उसके बाद व्रत पालने की शिक्षा देना चाहिये, फिर सयम धारण करने की शिक्षा देनी चाहिये ।

मुनि को पहले संयम (महाव्रत समिति आदि पुण्य कार्य) पालन की शिक्षा देना चाहिये, फिर चैतन्य स्वरूप के चिन्तन मे उसे प्रवृत्ति करना चाहिये, विद्वानों ने यही क्रम बतलाया है ।

इस प्रकार पुण्य की ग्राह्यता के सबध में पूर्वाचार्यों के उद्गार अत्यन्त सक्षिप्त रूप में प्रकट किये गये हैं ।

जड़ क्रिया और धर्म

व्रत उपवास पूजा आदि को जड़क्रिया (शरीर की क्रिया) कहकर उसे धर्म न मानना उत्सूत्र भाषण है क्योकि यदि पुण्य क्रियाये जडक्रियाये है तो पाप क्रियाये भी जड़ की ही क्रियाये कहलायेगी । हिसा आदि करना, अभक्ष्य-भक्षण करना आदि सभी तो जड शरीर के द्वारा ही होता है, यदि पुण्यक्रियाये धर्म नही है तो पाप क्रियाये अधर्म नही हो सकती । इस सबंध मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अच्छा स्पष्ट विवेचन किया है ।

वे कहते हैं कि यदि जड कर्म ही शुभ (पुण्य) अशुभ (पाप) सब कुछ करते हैं तो ऐसा कहने वाले के यहाँ कोई मनुष्य परस्त्री सेवन करता हुआ भी परस्त्रीगामी नही कहलायेगा

क्योंकि उसके मत में पुरुष वेद कर्म ही स्त्री की अभिलाषा करता है और कोई स्त्री व्यभिचारिणी नही कहलायेगी क्योकि उसके मत मे स्त्री-वेद कर्म ही पुरुष की अभिलाषा करता है। न कोई किसी का हिंसक होगा क्योकि कर्म ही दूसरे का घात करता है। श्री कुन्दकुन्द ने अपने इस कथन को समयसार मे ३३२ से ३४४ तक की १३ गाथाओं द्वारा बहुत सुन्दर लिखा है। यहां पर हम उक्त समर्थन मे केवल दो गाथायें लिखते हैं—

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरिय परंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥३३६॥
तम्हा ण कोवि जीवा अबंभचारी दुअम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्म चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिय ॥३३७॥

अर्थ—पुरुषवेद कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है, स्त्री वेद कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है, यह आचार्य परम्परा से आई हुई श्रुति है। अत. तेरे (पुण्य पाप को जड़-क्रिया मानने वाले के) मत में कोई अब्रह्मचारी (व्यभिचारी) नही है क्योंकि कर्म (जड़) ही कर्म (जड़) की अभिलाषा करता है।

जैनागम मे वस्तु-व्यवस्था अनेकान्त के आधार पर की गई है, एकान्त के आधार पर नही। उसे आंखो से ओझल कर जो एकान्त कथन से वस्तुतत्व का निर्णय करना चाहते हैं, वे श्री कुन्दकुन्द आचार्य के अनुयायी नही हो सकते।

लालबहादुर शास्त्री, एम० ए०,
साहित्याचार्य, इन्दौर

—**—

गुरु किसको कहा जाय

(मोक्षमार्ग प्रकाश अध्याय ६ पृष्ठ २७२)

जैन शास्त्रो में परिग्रह-रहित निर्ग्रन्थ को ही गुरु कहा गया है।

बहुरि वह कहे हैं, एक अक्षर के दाता को गुरु माने हैं। जो शास्त्र सिखावें वा सुनावें, तिनिको गुरु कैसे न मानिये ?

ताका उत्तर गुरु नाम बड़े का है। सो जिस प्रकार की महंतता जाके संभवे, तिस प्रकार ताको गुरु सज्ञा संभवे। जैसे कुल अपेक्षा माता पिता को गुरु संज्ञा है, तैसे ही विद्या पढ़ाने वाले को विद्या अपेक्षा गुरु संज्ञा है। यहाँ तो धर्म का अधिकार है, ताते जाके धर्म अपेक्षा महतता संभवे, सोई गुरु जानना। सो धर्म नाम चारित्र का है। "चारित्तं खलु धम्मो" ऐसा शास्त्र विषे कहा है। ताते चारित्रधारक ही को गुरु संज्ञा है।

बहुरि जैसे भूतादिक का नाम देव है, तथापि यहाँ देव का श्रद्धान विषे अरहंत देव ही का ग्रहण है, तैसे औरनि का भी नाम गुरु है, तथापि यहाँ श्रद्धान विषे निर्ग्रन्थ गुरु ऐसा प्रसिद्ध वचन है।

यहाँ प्रश्न—जो निर्ग्रन्थ बिना और गुरु न मानिये सो कारण कहा ?

ताका उत्तर—निर्ग्रन्थ बिना अन्य जीव सर्व प्रकार करि

महंतता नाहीं धरे हैं, जैसे लोभी शास्त्र व्याख्यान करे, तहाँ वह वाकों शास्त्र मुनावने ते महंत भया। वह वाको धन वस्त्रादि देने ते महंत भया। यद्यपि बाह्य शास्त्र सुनाने वाला महत रहे, तथापि अतरंग लोभी होय, सो दाता को उच्च माने। अर दातार लोभी को नीचा माने ताते वाके महतता न भई।

बहुरि निर्ग्रन्थ बिना अन्य जीव जैसा धर्म साधन करै, तैसा वा तिसतैं अधिक गृहस्थ भी धर्म साधन कर सकै। तहाँ गुरु संज्ञा किसको होय ? ताते बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ मुनि है, सोई गुरु जानना।

—:*:—

चारित्र का माहात्म्य

(दिवगत पूज्य श्री गरगेशप्रसाद जी वर्णी)

पर्याय की सफलता सयम से है। मनुष्य भव में देव पर्याय से भी उत्तमता इसी सयम की मुख्यता से है।

शुभोपयोगिनी क्रिया पुण्य-जननी है, उसे वैसा हो मानना किन्तु न करना यह कहाँ का सिद्धान्त है। मन्द कषाय का भी तो बाह्य प्रवृत्ति से सम्बन्ध है। इसका सर्वथा निषेध बुद्धि मे नही आता। अत· जिन्हे आत्महित करना है उन्हे बाह्य मे अपनी प्रवृत्ति निर्मल करनी ही होगी। बादाम के ऊपरी भाग के भग किए विना बिजी का छिलका दूर नही हो सकता। जब तक हमारो प्रवृत्ति भोजनादि क्रियाओ में भ्रागमोक्त न होगी केवल वचनबल और पाण्डित्य के बल पर कल्याण नही हो सकता।

यदि आगम ज्ञान सयम भाव से रिक्त है तब उससे कोई लाभ नहीं।

वही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है जो श्रद्धा के अनुकूल ज्ञान और चारित्र का धारी हो।

शान्ति का स्वाद तभी आ सकता है जब श्रद्धा के साथ-साथ चारित्र गुण की उद्भूति हो।

कषायो के कृश करने का निमित्त चरणानुयोग द्वारा निर्दिष्ट यथार्थ आचरण का पालन करना है।

जिनकी प्रवृत्ति चरणानुयोग द्वारा निर्मल हो गई है वे ही स्वपर कल्याण कर सकते है।

रागादि निवृत्ति के अर्थ चरणानुयोग है। केवल पदार्थ के निरूपण करने मात्र से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

जब तक चारित्र गुण का निर्मल परिणमन न होगा तब तक राग द्वेष की कलुषता नही छूट सकती।

वही ज्ञान प्रशसनीय है जो चारित्र युक्त है। चारित्र ही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

अविरत अवस्था में वीतराग भावो की शांति को अनुभव करने का प्रयास शशशृंग तुल्य (खरगोश के सीगो के समान असभव) है।

केवल वचनो की चतुरता से शाति लाभ चाहना मिश्री की कथा से मीठा स्वाद लेने जैसा प्रयास है।

पद के अनुसार शाति आती है। गृहस्थावस्था में वीतराग अवस्था की शाति की श्रद्धा तो हो सकती है परन्तु उसका स्वाद नही आ सकता। भोजन बनाने से उसका स्वाद आ जावे यह सभव नही, रसास्वाद तो चखने से ही आवेगा।

(वर्णी वाणी प्रथम भाग)

श्री कानजी स्वामी की शैली

(श्री पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री)

भा० जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष तथा 'जैन सन्देश' के सम्पादक माननीय पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री वाराणसी ने नवम्बर १९६१ में 'जैन सन्देश' के सम्पादकीय के रूप में 'मुमुक्षु और अमुमुक्षु' शीर्षक से ३ अत्यन्त उपयोगी लेख लिखे थे। हम उनमें से श्री कानजी स्वामी की शैली के विषय में प० जी के विचार तथा समाज को उनकी बहुमूल्य सलाह उद्‌घृत करके पाठकों के सम्मुख रख रहे है। —प्रकाशक

"इस प्रसंग में श्री कानजी स्वामीकी उपदेश शैली के सबध में भी दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। उनके उपदेशो मे शुभोपयोग को धर्म मानना मिथ्यात्व है इस बात पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता है। यदि अशुभोपयोग से सर्वथा निवृत्त और शुभोपयोग मे ही सलग्न मुमुक्षु जनो के सामने ऐसा कहा जाये तो उसे उचित कहा जा सकता है, किन्तु जो लोग अशुभोपयोग में सलग्न है और यत्किञ्चित् शुभोपयोग मे लगे हुए हैं उनको इस प्रकार का उपदेश देना शुभावह से अधिक अशुभकारक ही हो सकता है। इसलिए किसी भी शास्त्रकार ने पुण्यबन्ध को बुरा बतला कर भो शुभोपयोग की प्रवृत्तियो को प्रकारान्तर से मिथ्यात्व नही कहा। प्रवचनसार की गाथा ११ की व्याख्या करते हुए श्री अमृतचन्द सूरिजीने भी 'यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या सगच्छते' लिखकर शुभोपयोग को 'कथचित्' विरुद्ध कार्यकारि चारित्र' बतलाया है। अत· रागरूप होने के कारण शुभोपयोग यद्यपि हेय है तथापि सराग सयम के रूप में वह मुनियों तक के रहता

है। जब तक राग है तब तक शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति से एकाततः बचना सभव नही है। और जिस स्थिति में आज का गृहस्थ रहता है उस स्थिति में तो शुभोपयोग की तो बात ही क्या अशुभोपयोग से ही एकान्ततः बचना संभव नही है। अतः आज के युग में तो गृहस्थो को अशुभोपयोग से बचाने के लिये अशुभोपयोग-मूलक प्रवृत्तियो का ही विशेष रूप से विश्लेषण करने की आवश्यकता है जिससे साधारण गृहस्थ अशुभोपयोग से बचकर कम से कम शुभोपयोग मे तो लग जाये। और जब शुभोपयोग में लग जाये तो उसे शुभोपयोग को हेय बतलाकर शुद्धोपयोग के लिए प्रेरित करना उचित है। अमुमुक्षुजनों मे शुभोपयोग की ही चर्चा रहती है और उसे ही धर्म माना जाता है। जब कि यथार्थ मे शुभोपयोग धर्म की कोटि में नहीं आता, किन्तु वह अशुभोपयोग की तरह अधर्म नही है। और अशुभोपयोगी के लिए तो वही धर्म है। अतः इस विषय मे उसी शैली को अपनाने की आवश्यकता है, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र सूरि ने अपनाया है।

—*—

मुमुक्षुजन चारित्र पर जोर देने वाले अ-मुमुक्षुजनो के लिये अक्सर यह कहा करते हैं कि 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो। पै बिन आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' और अ-मुमुक्षुजन मुमुक्षुजनों को कहते है कि 'ये कोरे निठल्ले बैठकर ज्ञान की बाते बघारते है। इन्हे कुछ करना धरना पड़ता नही, इसी से इन्हे यह कोरी ज्ञान चर्चा रुचिकर लगती है।' आदि।

इस प्रकार के पारस्परिक आक्षेप प्रतिक्षेपों से पारस्परिक कटुता ही बढती है दोनों पक्षों को अपनी-अपनी कमियाँ दूर करके आत्महित में लगना चाहिये और पारस्परिक खींचातानी का

भाव दूर करके विवेक से काम लेना चाहिये। निरपेक्ष एकान्तवाद सर्वत्र बुरा है चाहे वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो। किन्तु मनुष्य की यह कमजोरी है कि वह जिस तत्त्व को अपनाता है उसीका आग्रही बन जाता है और फिर उसे अपने उस आग्रह को छोडते हुए अपना पक्ष नीचा होने की भावना सताने लगती है। और इससे धीरे-धीरे वह दुराग्रही बन जाता है। इसी से समयसार में व्यवहार नय को अभूतार्थ और निश्चय नय को भूतार्थ कह कर भी समयसार को पक्षातीत कहा है और इस तरह से उस अवस्था मे निश्चयनय का पक्ष ही जाता रहता है किन्तु शुद्धात्मा की अनुभूति के लिये तो निश्चयनय ही एकमात्र उपादेय है। व्यवहारावलबी को शुद्ध आत्मानुभूति त्रिकाल मे भी नही हो सकती। इसलिये मोक्षमार्ग को निश्चयमूलक माना गया है। किन्तु प्रथमपद में स्थित जनो के लिये व्यवहारनय हस्तावलम्बरूप होता है उसका सहारा पाकर ही मुमुक्षु आगे बढता है। किन्तु जो उस हस्तावलब को ही अपनाकर बैठ जाते है और उसे ही उपादेय मानने लगते है वे मोक्षमार्ग से दूर भटक जाते है। इसी तरह जो प्रारम्भ से ही व्यवहार को सर्वथा हेय मानकर एकमात्र निश्चयनय को ही उपादेय मानने लगते है और उसी के गुण गाकर बैठे रहते हैं और व्यवहार धर्म की क्रिया को मिथ्यात्व मानकर नही करते, उनकी गति भी व्यवहाराभासियो से अच्छी नही होती। अत. व्यवहार निश्चय सापेक्ष और निश्चय व्यवहार सापेक्ष होकर ही उपयोगी होता है।

जैन सन्देश नवम्बर, १९६१.

नमः श्री वर्द्धमानाय

सोनगढ़-सिद्धान्त

जैन संस्कृति

जगत्पूज्य श्री १००८ भगवान ऋषभनाथ ने जब एक हजार वर्ष तक कठिन तपस्या करके केवल ज्ञान प्राप्त किया, तब वीतराग सर्वज्ञ बनकर उनका नाम तमाम दुनिया में 'जिन' मशहूर हुआ। उस अर्हन्त दशा मे जो उन्होंने आत्मा से परमात्मा बनने का उपदेश सारी जनता को दिया, उस आत्मा की शुद्धि के मार्ग का नाम उसके प्रसिद्ध नाम 'जिन' के अनुसार 'जैनधर्म' पड़ा।

उनके बाद जो २३ तीर्थंकर और हुए उन्होंने भी सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त बनकर अपने-अपने जमाने में उसी जैन धर्म का प्रचार किया। उनके पद-चिह्नों पर चलने वाले असंख्य ऋषियों ने भी अपने-अपने समय में जैनधर्म का प्रचार किया।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी अब से २५६२ वष पहले हुए हैं, इस समय उनका ही शासन चल रहा है। उनके ही पदचिह्नों पर चलकर उनके अनुयायी मुनि आचार्यों ने जैन धर्म की संस्कृति को कायम रखा। इस तरह आज तक जो जैन संस्कृति कायम है, वह करोड़ों वर्षों पहले से चली आ रही है।

इस सस्कृति को तीन हिस्सो मे बांटा जा सकता है—
१—श्रद्धा २—आचार और ३—विचार।

श्रद्धा के रूप मे जैन स्त्री-पुरुष वीतराग भगवान को अपना उपास्य देव, उसकी वाणीमय शास्त्रों को अपने आचार-विचार के लिए विधायक ग्रन्थ और निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनि को अपने

धर्मनेता के रूप में गुरु; मन-वचन-काय से वन्दनीय मानते है।

आचार के रूप मे अहिंसा इस सस्कृति की जड है। अहिसा के आचरण के लिये ही हर एक जैन स्त्री-पुरुष पाक्षिक श्रावक के रूप मे शराब नही पीता, मास नही खाता, शहद नही खाता, ५ उदम्बर फल नही खाता, न किसी जीव की हत्या करता है। अपने आरम्भ, उद्योग तथा सुरक्षा के कार्यों मे होने वाली हिंसा से भी सावधान रहता है। जल को छान कर पीना, रात्रि को भोजन न करना आदि प्रवृत्तियां गृहस्थ जैन की अहिंसा रूप आचार के पोषण के लिये होती है।

विषयभोगो की लोलुपता घटाने के लिये तथा इन्द्रियों की गुलामी को दूर करके आत्म-शुद्धि की ओर सलग्न होने के लिये ही जैन नर-नारी पर्व दिनों मे, तथा अष्टाह्निका, दशलक्षण, षोडशकारण आदि के दिनों में ब्रह्मचर्य, उपवास, एकाशन, हरित वनस्पति-भक्षण-त्याग किया करते हैं।

तथाच-नैष्ठिक श्रावक के रूपमें ग्यारह प्रतिमारूप चारित्र मे से यथासम्भव आचरण का पालन होता है और समस्त घरवार, कुटुम्ब परिवार, आरम्भ परिग्रह का त्याग करके महाव्रती मुनि चारित्र का आचरण भी आत्मा की अधिक शुद्धि के लिए आचरण के रूप में किया जाता है।

विचार के रूप मे अनेकान्त-रूप स्याद्वाद को प्रमाण, नय, निक्षेप के साथ स्वीकार किया जाता है।

इस तरह श्रद्धा, विचार, आचार के रूप मे जैन संस्कृति अभी तक चली आ रही है।

लेकिन जब से श्री कानजी स्वामी ने सोनगढ में समयसार का सहारा (आड़) लेकर नया प्रचार शुरू किया है तब से जैनसंस्कृति को दिन पर दिन हानि पहुँचती जा रही है।

कानजी स्वामी देवशास्त्र गुरु को पर-पदार्थ बताकर आत्मशुद्धि के लिए अनुपयोगी तथा व्यर्थ बताते हुए, श्रद्धा नामक सस्कृति पर कुठाराघात कर रहे है।

निश्चयनय का, नियतिवाद का, व्यवहार नय की असत्यता का, व्यवहार चारित्र के त्याग का एकान्त सिद्धान्त बताकर स्याद्वाद सिद्धान्त की जड़ पर प्रहार कर रहे हैं।

कानजी खुद किसी भी तरह का चारित्र न पालकर और मुनि, श्रावक के व्यवहार चारित्र को जड़ शरीर की क्रिया बताते हुए उसे त्याज्य (छोड़ने लायक) कहते हैं, इस तरह वे आचार की जड़ भी हिला रहे हैं।

इस ढंग से कानजी भाई जैन संस्कृति को उखाड़ फेंकने की कोशिश में लगे हुए है। मुख से तो कुन्दकुन्द आचार्य को वे अपना गुरु कहते हैं लेकिन हृदय से न तो उनकी वाणी द्वारा श्रद्धा प्रकट होती है, न उनके स्याद्वाद सिद्धान्त पर अमल करते हैं और न उनके पद-चिह्नो पर चलकर श्रावक या मुनि के चारित्र का आचरण करते हैं।

भोले-भाले लोग, जो जैन सिद्धान्त को नही समझते, वे उनकी बातों में आकर श्रद्धा, आचार, विचार से शिथिल होते जा रहे है। यह जैन समाज तथा जैन संस्कृति के लिये दुर्भाग्य की बात है।

इसलिए अपने धर्मप्रेमी भाई-बहिनों में धर्म की श्रद्धा कायम रखने के ख्याल से मैंने यह छोटी-सी पुस्तक लिखी है। इसमे मैंने श्री पं० मक्खनलाल जी व्याख्यान वाचस्पति दिल्ली की पुस्तक को देखकर तथा कानजी स्वामी के समयसार प्रवचन से मिलान करके कुछ बातों पर रोशनी डाली है। मुझे ऐसा लगता है कि जिस तरह स्वामी दयानन्द ने वेदों का सहारा लेकर आर्यसमाज नामक नया पंथ चलाया, उसी तरह कानजी

स्वामी भी **समयसार** का नाम लेकर जैन संस्कृति से रहित एक नया पंथ चलाना चाहते हैं।

आज का इसान वैसे ही श्रद्धा, आचार-विचार के किसी बन्धन में रहना पसन्द नहीं करता। स्वच्छन्द रहकर ससार के **विषय भोगो में** लगा रहना चाहता है। इस पर कानजी स्वामी के उपदेश का सहारा उसे और मिल जावे तब **'करेला नीम पर चढ़ा'** (करेला वैसे ही कड़वा होता है, अगर उसकी बेल नीम के वृक्ष पर चढ़ जावे, तब तो उस बेल के करेले मे अपने आप और भी ज्यादा कड़वाहट आ जाती है) कहावत के अनुसार विषयलोलुपी लोगो को और भी स्वच्छन्दता मे सहारा मिल जाता है। **'आत्मा को शुद्ध बुद्ध'** समझ लेने मात्र से वे धर्म की जरूरत पूरी हुई समझ लेते हैं। इस तरह बिना कुछ किये सिर्फ ज्ञान से मुक्ति पा लेने का भ्रम उनके मन में घर कर जाता है।

जैन समाज की इस सांस्कृतिक हानि से जनता को सचेत करने के ख्याल से यह पुस्तक लिखी गई है। सब भाई-बहिन इसको शुरू से आखिर तक जरूर पढ़े।

कानजी स्वामी

श्री कानजी स्वामी ने समयसार का स्वाध्याय करके स्थानकवासी साधु का रूप छोड़ दिया, दिगम्बर मत स्वीकार किया है, परन्तु अब उन्होने क्या रूप धारण किया है, यह बात समझ में नही आती क्योंकि वे न तो दिगम्बर साधु के रूप में हैं, न वे ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारी के रूप मे हैं। जब वे ढूँढिया साधु थे तब सदा पैदल विहार करते थे, अब मोटर मे भी विहार किया करते हैं। उस समय उनके पहनने, ओढने, विछाने आदि के लिये कपड़े थोड़े सीमित थे अब उनकी कोई सीमा नहीं रही।

इस समय आपकी भोजन पान की भी कोई मर्यादा नहीं है। शास्त्र पढ़ते-पढ़ते बीच में भी पानी पिया करते हैं। पास में रखे हुए पीकदान को उठा कर उसमे थूक देते हैं और बिना हाथ धोये फिर उसी हाथ से शास्त्र उठाकर पढ़ने लगते हैं। कभी व्रत उपवास आप करते नहीं क्योंकि उसको आपने 'जड़ क्रिया' कह कर छोड़ दिया है। शायद उनके खयाल में 'जड पदार्थ व्रत उपवास करते हैं, आत्मा इन्द्रियों को अपने वश मे करने के लिये तथा विषय भोगों से विरक्त होने के लिये व्रत उपवास आदि नहीं करती।'

अपने शरीर को तन्दुरुस्त रखने के लिए प्रतिदिन सबेरे हवाखोरी के लिये घूमने भी जरूर जाते हैं।

जब दिल्ली में आये थे तब कुतुबमीनार आदि इमारते देखने के लिये भी घूमते रहे।

रजस्वला स्त्री के हाथ का भोजन

शरीर की अशुद्धता को आप अशुद्धता नही मानते, इसी लिये आप सोनगढ की एक बाई के हाथ से भोजन लिया करते हैं। अगर वह बाई रजस्वला होती है तो भी आप उसके ही हाथ से भोजन लिया करते है।

सोनगढ़ गये हुये विश्वस्त सूत्रो से मालूम हुआ है कि कलकत्ता निवासी आपके एक भक्त ने आपके लिये भोजन बनवाया। उस भाई के चौके मे आकर सोनगढ़ की उस बाई ने आपको अपने हाथ से भोजन कराया। वह उस दिन रजस्वला थी लेकिन आपने बिना संकोच के उसके हाथ से भोजन लिया। इस पर कलकत्ता के उन भाई को तथा उनकी पत्नी को बहुत अरुचि हुई और उन्होंने अपनी बची हुई भोजन-सामग्री फेंक दी तथा चौका बर्तन फिर शुद्ध किये।

ऐसी ही घटना गया की एक धर्मात्मा महिला के साथ हुई।

कानजी स्वामी का खयाल है कि रजस्वला होना जड़ शरीर का काम है, उससे आत्मा का कुछ सम्बन्ध नही। इसीलिये सोनगढ़ के महिलाश्रम की स्त्रियाँ रजस्वला के दिनो में पूजा, शास्त्र छूकर स्वाध्याय आदि नि:संकोच होकर करती हैं।

रज और वीर्य को खून, पीप तथा टट्टी, पेशाब की तरह अपवित्र माना गया है, इसीलिए सब जगह तीन दिन तक स्त्रियाँ रजस्वला के दिनो मे अपवित्रता के कारण न रसोई बनाती हैं, न पूजा आदि करती है और न धर्मशास्त्रों को छुआ करती हैं। लेकिन कानजी स्वामी ने सोनगढ मे इस अपवित्रता का विचार हटवा दिया है।

बहिरंग-शुद्धि अन्तरंग-शुद्धि की कारण है, टट्टी से लिपटा हुआ मनुष्य जब अपने शरीर की टट्टी जल से धोकर तथा स्नान करके शरीर शुद्ध नही कर लेता, कपडों में पेशाब या खून, पीप लग जाने के बाद जब तक उस कपड़े को धो नही लेता तब तक न पूजा करता है, न शास्त्र छूता है और न भोजन करता है क्योंकि उस अपवित्रता की ग्लानि उसके मन मे बनी रहती है।

रज तो मल-मूत्र आदि से भी ज्यादा अशुद्ध दुर्गन्धित खून होता है, उसकी वायु लगने से बनते हुए पापड काले पड जाते हैं, रजस्वला स्त्री को देख कर काला सर्प अन्धा हो जाता है। ऐसे अपवित्र रजस्राव के दिनो में स्त्रियाँ रसोई, पूजा आदि, शास्त्र छूना आदि कोई काम नही करती, न किसी और स्त्री-पुरुष को छूती हैं। कानजी स्वामी ने कहा है कि 'मैं रजस्वला के हाथ का भोजन नही करता।' यदि ऐसा है तो ठीक है, फिर कुछ ऐतराज नही। पर इस विषय मे सभी बातो का पूरा विचार रखा जाना चाहिये।

सत् गुरुदेव

जैनधर्म मे महाव्रतधारी मुनि को गुरु माना गया है, परिग्रही

अविरती को गुरु जैन सम्प्रदाय मे कहीं भी नही बतलाया गया। मुसलमानी राज्य के समय जब मुनि नही होते थे तब भट्टारक होते रहे लेकिन उन्होने भी अपने बनाये हुए ग्रन्थो मे कही भी परिग्रहधारी अव्रती को 'गुरु' नही लिखा। भगवान आदिनाथ से लेकर अब तक निर्ग्रन्थ मुनि को ही 'गुरु' माना जाता रहा है।

चरित्र-रहित परिग्रही को गुरु मानना गृहीत मिथ्यात्व तथा गुरुमूढ़ता बतलाया है।

लेकिन कानजी स्वामी अविरती तथा परिग्रहधारी होते भी 'गुरु' ही नही 'सद्गुरुदेव' बने हुए हैं। उनके चित्रों मे 'सद् गुरु देव' छपा हुआ रहता है, उनके भक्त उनको सद् गुरुदेव मानकर उनके पैर थाल मे धोते है, आरती उतारते है।

अपनी मान्यता मनाने के लिये ही कानजी दिगम्बर महाव्रती मुनियो को द्रव्यलिङ्गी कह कर उनकी निन्दा करते है, जब कि कानजी स्वामी खुद न द्रव्यलिङ्गी हैं और न भावलिङ्गी हैं। दूसरे का द्रव्यलिङ्ग भावलिङ्ग जानने के लिए अवधिज्ञान मनपर्यय ज्ञान या केवल ज्ञान की जरूरत है लेकिन कानजी स्वामी को अपना अगुरुपना नजर नही आता दूसरों का द्रव्यलिंग मालूम हो ही जाता है।

इस तरह बिना अणुव्रत पाले और बिना आरम्भ परिग्रह का त्याग किये 'सदगुरुदेव' बन जाने का नया आविष्कार करके कानजी स्वामी ने मोक्षमार्ग सरल बना दिया है।

इसी सरल मोक्षमार्ग को देखकर भोली-भाली जनता तथा इन्द्रियो के दास विषय-लोलुपी ज्ञानी भी बिना किसी तपस्या व्रत नियम आखडी के 'मुमुक्षु' (मोक्षमार्गी) बनते चले जा रहे हैं।

विषय भोगो का बिना त्याग किये जब खाली समय-सार सुनने से या शुद्ध आत्मा की चर्चा कर लेने से ही मोक्षमार्ग मिल

जावे तब तप त्याग, संयम पालने की जरूरत भी क्या है। गुरु के पदचिन्हों पर ही चेले चलेंगे।

मानस्तम्भ में मूर्ति

सोनगढ़ में जो मानस्तम्भ बनाया गया है उसमे कानजी स्वामी की मूर्ति उकेरी गई है। उसी मानस्तम्भ में श्री कुन्द-कुन्द आचार्य की मूर्ति भी बनाई गई है। मालूम हुआ है कि कानजी की मूर्ति कुन्दकुन्द आचार्य की मूर्ति से ऊपर बनाई गई है। इस तरह कानजी भाई ने आदर सम्मान मे अपना स्थान श्री कुन्दकुन्द आचार्य से भी ऊँचा रखकर अपनी गुरुभक्ति प्रकट की है।

कानजी के भक्तो ने सोनगढ़ का यह अनुकरण करके एक-दो और स्थानो पर भी मानस्तम्भ मे कानजी की मूर्ति उकेरी है। इस गलती का बुरा नतीजा भविष्य मे यह निकलेगा कि हमारी भावी पीढी यह समझेगी कि दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मे कपडा पहनने वाला अव्रती मनुष्य भी गुरु होता है।

इस तरह दिगम्बर आम्नाय में यह एक भ्रम फैलाने वाला नया रूप शुरू हुआ है। इसकी नीव कानजी भाई ने डाल कर दिगम्बर जैन संस्कृति को भारी हानि पहुँचाई है।

मंदिर में कानजी के चित्र

दिगम्बर जैन मन्दिरो मे अर्हन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान होती है जिसके दर्शन करने से वीतरागता का प्रभाव मन पर पडता है। अर्हन्त भगवान की वाणी जिनमें लिखी हुई है, ऐसे जैन शास्त्र विराजमान होते हैं जिनके स्वाध्याय से ज्ञान वैराग्य का उपदेश मिलता है तथा निर्ग्रन्थ मुनियो के चित्र टांगे जाते हैं जिनको देखने से मन पर ब्रह्मचर्य, वैराग्य, शान्ति की छाप लगती है।

इनके सिवाय और किसी मिथ्यात्वी गुरु के तथा चारित्र-रहित परिग्रहधारी मनुष्य के चित्र मन्दिर में नहीं रखे जाते।

परन्तु अब कुछ दिनो से कुछ कानजी स्वामी के श्रद्धालु भाई कानजी स्वामी को अपना तरणतारण गुरु मान कर अपने दिगम्बर जैन मदिरो मे अविरती परिग्रही कानजी स्वामी का फोटो भी टागने लगे हैं। यह उनकी मिथ्यात्व फैलाने की दुर्भावना है तथा गुरु-मूढ़ता की निशानी है।

इस तरह तो दिगम्बर जैन मन्दिरों में दिगम्बरेतर साधुओ के भी चित्र टंगने लगेगे।

मन्दिर के प्रबन्ध करने वालो को इस बुनियादी गलती का सुधार फौरन कर देना चाहिए, नही तो धीरे-धीरे मनचले भाई दिगम्बर जैन मन्दिरों के धर्मायतन रूप को बिगाड़ देगे। फिर भोले भाले स्त्री पुरुष परिग्रहधारी को भी गुरुदेव समझने की मिथ्या श्रद्धा करने लगेगे।

इसलिए मन्दिर के मुखिया लोगो को तथा पचायतो को कानजी स्वामी का एक भी चित्र मदिर मे कही भी नही रखने देना चाहिये। अगर किसी आदमी ने पंचायत को बिना पूछे चालाकी से कहीं कोई कानजी स्वामी को फोटो टाग दी हो तो उसे फौरन वहा से हटा देना चाहिये जिससे आगे मिथ्यात्व फैलने का मौका न मिले और न आपसी झगड़े फिसाद की नीव पडे।

कीचड़ धोने से पहले कीचड़ मे पाव न देना ही अच्छा है।

जैसे सोनगढ के मानस्तम्भ मे कानजी स्वामी की मूर्ति बना दी गई है, उसी तरह इन चित्रों की तरह हमारी गफलत से उनके भक्त कभी कानजी भाई की मूर्ति लाकर भी रख देगे।

समयसार

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने संसारी जीवो को मोक्षमार्ग पर लगाने के लिए अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थो की रचना की है। उन सब में मुख्य ग्रन्थ 'समयसार' है।

समयसार में शुद्ध आत्मा का कथन निश्चय नय से किया है और व्यवहार नय से भी आत्मा के कर्मबन्धन की दशा बतलाई है। इस तरह निश्चय तथा व्यवहार नय दोनों का यथास्थान वर्णन किया है।

समयसार के टीकाकारो ने एकान्तवाद से बचते हुए कुन्दकुन्द आचार्य के उद्देश्य के अनुसार समयसार की व्याख्या की है, जिससे अभी तक कभी कोई वाद-विवाद पैदा नही हुआ परन्तु कानजी स्वामी ने अपना कल्पित प्रवचन करके समयसार की ऐसी निराधार तथा एकान्तवाद की पुष्टि करने वाली व्याख्या की है जिससे जैन सिद्धात को न जानने वाले भोले भाले स्त्री पुरुष भ्रम मे पड़ जाते हैं। ये धर्म की बातो को अधर्म समझने लगते हैं और एकान्त मिथ्यात्व को धर्म समझने लगते हैं। गृहस्थो के लिए अर्हन्त भगवान् तथा अन्य आचार्यों मे जो धर्मकार्य बतलाये है, उनको कानजी स्वामी ने समयसार के प्रवचन मे अधर्म बतलाया है।

समयसार का स्वाध्याय

समयसार उच्चकोटि का ग्रथ है, उसका रहस्य समझने के लिये मनुष्य को नयो का, प्रमाण का, कर्मसिद्धांत का, तत्वो का, गुणस्थान मार्गणाओं तथा चरणानुयोग का भी अच्छा ज्ञान होना चाहिये। इतना ज्ञान हुए बिना जो समयसार को पढ़ने बैठ जाते हैं वे पंडित बनारसीदास जी की तरह निश्चय और

व्यवहार दोनो धर्मों से भ्रष्ट हो जाते हैं।

लेकिन आज यह हालत चालू हो गई है कि जो स्त्री या पुरुष चार दिन सोनगढ़ रह आया कि वहाँ से आकर झट समयसार पढने बैठ जाता है। जिन बेचारों को छह द्रव्य और सात तत्वों के नाम तक नहीं आते, नयों और कर्मों के उदय बन्ध सत्ता का जरा भी ज्ञान नहीं, वे कानजी भाई की टीका लेकर दूसरों को समयसार सुनाने बैठ जाते हैं।

इस तरह भेड़चाल की तरह समयसार के स्वाध्याय की दुर्दशा कर डाली है। तोते की तरह रटी हुई एक बात कह डालते है कि हमको तत्व, द्रव्य, कर्म, नय, गुणस्थान आदि जानने की क्या जरूरत है, खाली आत्मा को समझ लेने से मतलब है। उन अंध-श्रद्धालु भोले स्त्री पुरुषो को पता नही कि तत्व, कर्म, गुणस्थान, नय आदि भी आत्मा को ही समझने के लिये हैं। इस तरह कानजी भाई ने यह गलत प्रथा चला दी है। इस प्रथा का उद्देश्य यही मालूम होता है कि भोली जनता अंध-श्रद्धालु बनती जावे, उसमें विवेक पैदा न हो।

पुण्य विष्टा के समान है ?

कुन्दकुन्द आचार्य ने तथा और सभी आचार्यों ने हिंसा, भूठ चोरी, व्यभिचार, परिग्रह आदि अशुभ पापक्रियाओं को छोड़ कर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, दान, पूजन आदि शुभ पुण्य कार्य करने का उपदेश अपने रयणसार, चारित्रपाहुड़, नियमसार पुरुषार्थसिद्धि-उपाय आदि ग्रथो में दिया है परन्तु कानजी स्वामी उन पुण्य-कार्यों को विष्टा (टट्टी) के समान बतलाते हैं।

आपने समयसार प्रवचन, भाग पहला, पृष्ठ १२५ पर लिखा है।

"इतना करो तो पुण्य होगा, फिर अच्छा संयोग मिलेगा

देवभव में ऐसे सुख मिलेंगे, ऐसा सुनकर जीव पुण्य को धर्म मानता है, किन्तु पुण्य का फल तो धूल है, उससे आत्मा को कलंक लगता है। मनुष्य अनाज खाता है, उसकी विष्टा भूंड नामक प्राणी खाता है। ज्ञानी ने पुण्य को जगत की धूल विष्टा समझकर त्याग दिया है, उधर अज्ञानी जन पुण्य को उमंग से अच्छा मान कर आदर करता है। इस प्रकार ज्ञानियो के द्वारा छोड़ी गई पुण्य रूप विष्ठा जगत के अज्ञानी जीव खाते है।"

सम्यग्हष्टि जीव अगर गृहस्थी होता है तो दान पूजा, दया अहिंसा आदि अणुव्रत रूप धर्म पालता है, मास आदि अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाता। अगर वह मुनि होता है तो महाव्रत, गुप्ति, समिति आदि मुनि धर्म को पालता है। उन ही पुण्य कार्यों से आत्मा क्रम से शुद्ध होती हुई शुक्ल-ध्यान द्वारा पूर्ण शुद्ध हो जाती है, ऐसा आचार्यों ने उपदेश दिया है। कुन्दकुन्द आचार्य ने भी रयणसार, चारित्रपाहुड मे ऐसे पुण्य कार्यों को धर्म बतला कर उनके करने की प्रेरणा की है।

कानजी महाराज उन ही दान पूजा व्रत आदि पुण्य कार्यों को विष्टा (टट्टी) बता रहे है। पता नही कौन से ज्ञानी ने पुण्य कार्यों को विष्ठा समझकर छोड़ दिया है। सभी मुक्तिगामी जीवो ने गृहस्थधर्म तथा मुनिधर्म-रूप पुण्य कार्यो को उत्साह के साथ किया है।

कानजी स्वामी खुद अपने आपको ज्ञानी मानते है तो फिर वे खुद क्यों इन पूजा प्रवचन आदि विष्टा के समान पुण्य कार्यों को कर रहे है? क्या ये दान, पूजा आदि पुण्य काम दूसरो के लिये विष्टा के समान हैं, कानजी स्वामी के लिए तथा उनके शिष्यो के लिये विष्टा समान नही हैं?

कौन से आचार्य ने कौन से ग्रंथ में पुण्य कार्यों को विष्टा

के समान बतलाया है ? समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ की व्याख्या मे ऊटपटाग निराधार ऐसे गन्दे गलत शब्द लिखना कानजी भाई को ही शोभा देता है।

फिर आप समयसार प्रवचन भाग पहला पृष्ठ, ४३१ पर लिखते है—

"जैसे गर्मी के दिनो मे किसी छोटे बालक को पतला दस्त हो जाये और वह उसे चाटने लगे तो वह उसकी ठण्डक से संतुष्ट होता है यह उसकी मात्र अज्ञानता ही है, इसी प्रकार चैतन्य-मूर्ति भगवान अविकारी आत्मा मन के विकल्पो से पृथक् है, उसे भूल कर अपनी कल्पना से (विपरीत मान्यता से) माने गये धर्म के नाम पर और अपने हित करने के नाम पर शुभ भाव (चैतन्य स्वभाव के गुण की विकाररूपी विष्टा) को ठीक मानकर संतुष्ट होता है और मानता है कि इससे कुछ अच्छा होगा वह उस बालक के समान अज्ञानी है जो विष्टा को अच्छा मान रहा है।"

श्री कुन्दकुन्द आचार्य भाव-पाहुड की ७६वी गाथा मे 'सुह धम्म' शब्दों द्वारा शुभ भावों को धर्मरूप कह रहे हैं और कानजी स्वामी उन ही आचार्य के समयसार की व्याख्या मे बिना प्रकरण के मनगढन्त रूप से शुभ कार्यों को विष्टा के समान बुरा लिख रहे हैं।

इस जमाने मे कानजी भाई के भी (किसी भी भरत क्षेत्रज के) शुद्ध भाव तो होते नही क्योकि पहला सहनन न होने से इस समय किसी को शुक्ल ध्यान नहीं होता। फिर कानजी भाई तो अविरती भी हैं। इसलिए कानजी स्वामी के भी शुभ भाव ही होते हैं तो क्या आपके वे भाव विष्टा समान नहीं हैं ? और क्या वे उन शुभ भावो को करते हुए············वाले···बालक

समान आचरण नही करते ? (क्षमा करे शब्द आपके ही हैं।)

पाठक महानुभाव उसके आगे देखिये, आप

समयसार प्रवचन, भाग दूसरा, पृष्ठ १६८, पंक्ति १० मे लिखते है—

"वह अपनी भगवत्ता को भूलकर पुण्य पाप की विष्टा का आदर करता है किन्तु उसे यह भान नही है कि इस प्रकार तो अविकारी स्वतन्त्र स्वभाव की हत्या होती है।

बाहर से पुण्य के घूरे दिखाई देते है सो वह—तेरी वर्तमान चतुराई या सयान का फल नही है।"

यहाँ आपने पाप की तरह पुण्य को भी विष्टा बता दिया है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य पाप भी न करे और पुण्य आचरण भी न करे ? तो फिर क्या करे। कानजी महाराज ऐसा करके दिखलावे कि यह करो, सो कुछ नहीं। आप १२वे गुणस्थान वाले शुद्ध भाव करके दिखा देते, तब तो आपका कहना कुछ सार भी रखता। खुद प्रवचन करके, मदिर बनवाकर, दान दिलवाकर या लेकर जो पुण्य कर रहे हैं, वह घूरे की तरह नही है क्या ? जब आपने खुद पुण्य करना नही छोड़ा, न उनके किसी भक्त ने अब तक छोड़कर दिखलाया फिर आपकी वर्तमान चतुराई किस काम आई ? बतलाइये आप पुण्य को करते हुए उसका आदर कर रहे है या निरादर ? पता नही बार-बार आपके मुख से विष्टा शब्द क्यो निकलता है ?

धर्म का भ्रामक रूप बतलाकर आप समयसार प्रवचन, भाग दूसरा, पृष्ठ ६, पंक्ति ६ में लिखते हैं—

"दान पूजा इत्यादि शुभ भाव हैं और हिंसा असत्य आदि अशुभ भाव हैं उन शुभाशुभ भावों के करने से धर्म होता है यह मानना सो त्रिकाल मिथ्यात्व है।"

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'रयणसार' मे दान और पूजा को गृहस्थ का मुख्यधर्म बतलाया है (दाणं पूजा मुक्ख सावयधम्मे ण सावया तेण विणा) तब कानजी भाई श्री कुन्दकुन्द आचार्य के शास्त्रीय विधान की अवज्ञा करके उस मान्यता को त्रिकाल (सदा रहने वाला) मिथ्यात्व बतला रहे हैं। हमारे पाठक खुद निर्णय करें कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य का लिखना ठीक है या कानजी भाई का ? मजे की बात यह है कि कानजी भाई अपने यहाँ के मंदिरों में पूजा आरती हर रोज कराते है और लाखों रुपये का दान अपने शिष्यों से कराया करते हैं। तो क्या वे भक्तों से दान पूजा कराकर धर्म नहीं करा रहे, अधर्म करा रहे हैं ? इस तरह तो आपके कहे अनुसार मंदिर धर्म के स्थान नही माने जाने चाहिये क्योंकि मंदिरों में भगवान की पूजा होती है।

सोनगढ तथा सौराष्ट्र के अन्य मन्दिरों के बनाने में जो आपके भक्तों ने दान दिया सो उन्होने धर्म किया या अधर्म ?

समयसार प्रवचन, भाग दूसरा, पृ० २१२, पं० १९ में आप कहते हैं—

"जिसे ज्ञानियो ने विष्टा मान कर छोड़ दिया है। ऐसे पुण्य को अपना मान रहा है जो कि व्यभिचार है।"

पापको अपनाने वाला तो अज्ञानी होता है किंतु सम्यग्दृष्टि जीव जो अपने सम्यक्चारित्र रूप व्रत तप सयम से पुण्यकर्म उपार्जन करता है, वह तो ज्ञानी माना गया है। **षोडशकारण** भावना की पूजा होती है, वे षोडशकारण भावना पुण्य रूप हैं, सब से उच्च पुण्य प्रकृति तीर्थंकर का उन भावनाओं से बन्ध होता है और उस पुण्य तीर्थंकर प्रकृति के उदय से दिव्यध्वनि द्वारा तीन लोक के कल्याणकारी धर्म की प्रवृत्ति होती है।

ऐसे पुण्य को विष्टा और व्यभिचार बताकर कानजी भाई कितनी निन्दाजनक बात कहकर भ्रम फैला रहे हैं ! कौनसे मूर्ख-शिरोमणि ज्ञानी ने षोडशकारण भावनाओ का और उनसे प्राप्त हुए तीर्थंकर रूप पुण्य कर्म तथा तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य फल को छोड़ा, कृपया कानजी भाई उसका नाम तो बतावें ?

किसी भी आर्षशास्त्र ने सम्यग्दृष्टि के पुण्य को विष्ठा या व्यभिचार नही बतलाया । कही लिखा हो तो कानजी बतलावे ।

श्री कानजी भाई ने पूर्व भव मे पुण्य किया था जिससे कि इस भव में उन्होने स्वस्थ सुन्दर उच्चकुलीन मनुष्य भव पाया, प्रवचन करने की योग्यता पाई । उसी पुण्य फल का वे उपभोग कर रहे हैं और आगे के लिये पुण्य कर्म कमा रहे हैं। पुण्य कर्म के फल रूप इन मनुष्यभव, उच्चकुल आदि बातो मे से आपने एक भी नही छोड़ी, तो आपके कहे अनुसार यह विष्टा और व्यभिचार है या नहीं ? या आपके लिये तो पुण्य भोज्य स्वादिष्ट पदार्थ है तथा सदाचार है किन्तु दूसरो को पुण्य विष्टा और व्यभिचार है । पुण्य कर्म का फल भोगते हुए और पुण्य कर्म उपार्जन करते हुए आप ज्ञानी तो हैं ही ? ऐसी ही बात आपके सब शिष्यो की है ।

श्री कानजी भाई समयसार प्रवचन, भाग दूसरा, पृ० ८७, पंक्ति १९ मे कहते हैं—

"तू पर को अपना स्थान मानकर पुण्य पाप की विष्टा मे लोट रहा है ।"

यहाँ सवाल सिर्फ यह है कि जब आप और आपके शिष्य अपनी आत्मा को समझते है तो इस मनुष्यभव, सुकुल, मनोहर वाणी, विभूतिमयी पुण्य विष्टा से अलग क्यों नही हो जाते ? इस विष्टा से अलग होकर दिखावें तो सही ? या आपकी कथनी

और करनी मे अन्तर है अथवा यह सिर्फ कहने रिझाने की बात है, अमल मे लाने की बात नही है ? विष्टा शब्द आपके मुख से खूब निकलता है।

फिर आप समयसार प्रवचन, भाग पहला, पृ० १८५, पं० १६ मे कहते है--

"शुभ भाव पुण्य बन्ध के भाव हैं और अशुभ भाव पाप बंध के, दोनो विकार हैं।"

पापबध तो आत्मा को संसार सागर मे डुबाने वाला विकार है इसीलिए सम्यग्ज्ञानी पाप बंध नहीं करता किन्तु सम्यग्ज्ञानी अपने वर्द्धमान चारित्र द्वारा पुण्यबंध तो किया ही करता है। वही पुण्य पक कर आत्मा को पावन कर देता है। अतः न तो वह पाप के समान है, न हानिकारक विकार है। लेकिन आप खुद पुण्य-बंध करते हुए भी उसे विकार क्यों कह रहे हैं ? यह विकार आपने अभी तक क्यो नही छोड़ा ? इस जन्म मे आप उससे खुद छूट भी जायेंगे या नहीं ? इस बात का जवाब कानजी भाई या उनका कोई अधिकारी शिष्य देकर जनता का भ्रम दूर करे।

फिर आप समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० १७४, में कहते है—

"पुराने पुण्य का फलित होना भी दुःख है और नवीन पुण्य का बंध होना भी दुःख है।

चरमशरीरी तद्भवमोक्षगामी आदिनाथ तीर्थंकर ने षोडश-कारण भावनाओ द्वारा पूर्व भव मे पुण्य कर्मबंध किया था और उस पुण्य कर्म के फल का उन्होने उपभोग किया, भरत चक्रवर्ती बाहुबलि, रामचन्द्र आदि अनेक शलाका पुरुषों ने पुण्य कर्म के फल से यशस्वी पद पाया, उसका फल भोगा उसी पुण्य उदय से

उनको वज्रवृषभनाराच सहनन, शुक्लध्यान के लायक शरीर मिला जिसके सहारे वे महाव्रती मुनि बन कर मोक्ष गये, अन्त समय तक अपने पुण्य शरीर का लाभ लेते रहे। इस तरह पुण्य कर्म और उसके फल से उनको सुख ही सुख हुआ, अनन्त सुख वाला मोक्ष भी उसी पुण्य शरीर द्वारा मिला। इसीलिए कुन्दकुन्द आचार्यने प्रवचनसार में लिखा है—'**पुण्णफला अरहंता**' यानी-पुण्य के फल से तीर्थंकर अर्हन्त होते है।

यद्यपि आपने वैसा पुण्य कर्म नही कमाया इसलिए आप जन्म-मरण के चक्कर से नही निकले लेकिन फिर भी थोडे पुण्य के फल से जो आपको यह शरीर मिला जिसके सहारे आप प्रचार कर रहे हैं और आगे के लिये पुण्य बाँध रहे हैं, सो भी क्या दुःख है ? अगर है तो आप इससे अपने आपको छुडाते क्यो नही ? इस दुःखमय शरीर आदि पुण्य फल का त्याग करके दिखलाइये।

इस तरह आपने पुण्य को विष्ठा, व्यभिचार, फोड़ा, धूल आदि बताकर उसकी निन्दा तो खूब की है लेकिन उस पुण्यफल को अमल मे खुद ला रहे हैं। इसको कहते है।

दीगरां नसीहत, खुदरा फजीहत।

पर उपदेश कुशल बहुतेरे। परोपदेशे पाण्डित्य।

चारित्र का तिरस्कार

कानजी स्वामी पहले स्थानकवासी महाव्रती साधु थे, जैसे उन्होनें समयसार के स्वाध्याय से श्रद्धान बदला उसी तरह उसके साथ चारित्र भी बदल कर दिगम्बर महाव्रती मुनि बन जाते तो वे श्रद्धान ज्ञान चारित्र की मूर्ति बनकर कुन्दकुन्द आचार्य के सच्चे श्रद्धालु असली शिष्य होते। अगर इतनी शक्ति न थी तो क्षुल्लक आदि अणुव्रती चारित्र धारण करते। लेकिन शरीर-मोह से ऐसा न हो सका, जो वीर व्यक्ति शरीर के मोह पर और

इन्द्रियों की गुलामी पर विजय पा लेता है. वही संयम धारण कर सकता है, मोक्षमार्ग मे आगे वही बढ़ता है ।

ऐसा मालूम होता है कि आप मोक्ष पाने के लिए चारित्र की जरूरत नही समझते सिर्फ सम्यग्दर्शन से मुक्ति मानते हैं। तभी आपने अपने ग्रन्थो में जगह-जगह चारित्र की तथा चारित्र-धारियो की दिल खोलकर निन्दा की है । शायद आप मुनियों की निन्दा करके अपना बड़प्पन साबित करना चाहते हैं। लेकिन न तो चारित्र के बिना खाली सम्यक्त्व से मोक्ष मिलता है चाहे सैकड़ो भव धारण करे और न चारित्र बिना जीवन ऊँचा बनता है ।

चारित्र के लिए आपके दिल में कैसा आदर है, उसका नमूना देखिये—

समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० १३ में आप कहते हैं

"आज कल जगत में त्याग के नाम पर अधाधुंधी चल रही है । कुंजडे काछी जैसो ने भटे-भाजी की तरह व्रतो का मूल्य कर दिया है ।"

आप कितने सुन्दर गुरु-भक्त हैं कितने अच्छे गुणानुरागी हैं, मुनियों का कितना आदर आपके हृदय मे है, यह बात आपने अपने शब्दो मे जाहिर कर दी है । क्या आप जब ढूंढिया साधु थे तब आपने भी कुंजडे काछी जैसा ही व्रतो का मूल्य किया था । व्रती सयमी मुनियों, क्षुल्लकों आदि को काछी कुंजड़े की उपमा देने में आपको सकोच नही हुआ ! जिनको समाज अपना पूज्य गुरु मान कर पूजा करती है उनको आप ऐसी हीन उपमा देकर तिरस्कार कर रहे हैं । यह तो वैसी बात हुई जैसे लक्ष्मी-वाहन आदि सूरज की रोशनी की निन्दा करें । आप अपने आत्मा को इन्द्रियों की गुलामी से और शरीर के मोह से छुड़ा

नहीं सकते, इसलिए आप व्रत संयम धारण करना जरूरी नही समझते। इसी कारण आप व्रत की और व्रतधारी पूज्य त्यागियों की निन्दा करके अपना दिल खुश करते है, साथ ही लोगों को भ्रम में डालते है।

कानजी महाराज समयसार प्रवचन, भाग तीसरा पृ० १५६, पंक्ति ४ मे लिखते हैं—

"हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप के परिणाम और अहिसा, सत्य, दया, दान आदि पुण्य के परिणाम है। इन दोनो अशुभ और शुभ परिणामो में फँसे रह कर तुझे अब कितना क्या लाभ निकालना है?"

आत्मा को लाभ, पाप छोड़ने तथा व्रत धारण करने से ही होता है। भगवान ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरो ने तथा कुन्दकुन्द आचार्य आदि ऋषियों ने आत्म-कल्याण के लिए ही महाव्रत धारण किये थे। उसी चारित्र के बल पर क्रम से मुक्ति मिलती है। श्री कानजी ने भी बाल ब्रह्मचर्यव्रत इसीलिये ग्रहण किया, ढूंढिया साधुओ के महाव्रत भी आपने इसी लाभ के लिए पाले थे, अब आप अहिसा सत्य दया आदि का लाभ पूछ रहे है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य को अपना गुरु मान कर भी आप उनके वचनों पर विश्वास नही करते। वे मोक्षपाहुड में लिखते है। **'हिंसारहिये धम्मे'** यानी धर्म अहिसा रूप है। बोध पाहुड मे श्री कुन्दकुन्द लिखते हैं **'धम्मो दयाविसुद्धो'** यानी–धर्म दयामय होता है। उस दया और अहिसा धर्म से आपको आत्मा का कुछ लाभ नही दिखता।

समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० १२, पंक्ति १ मे लिखते हैं—

"श्रावक के बारह व्रत और मुनियों के पच महाव्रत भी

विकार हैं।"

आत्मा के विकार मिथ्यात्व, अविरत, विषय भोगो की लोलुपता है, उन आत्म-विकारों को दूर करने के लिए अर्हन्त भगवान ने गृहस्थ श्रावकों को १२ व्रत और मुनियों को महाव्रत पालन करने का विधान किया है। श्रद्धालु धर्मात्मा इनका आचरण करते हैं और विषय-लोलुपी जीव इन व्रतों से दूर रहे आते हैं।

कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्र पाहुड़ मे '**दुविह सजमचरण, सायार तह अणायार** २१" आदि गाथाओं में अणुव्रत महाव्रत पालने की प्रेरणा की है। कानजी स्वामी अपने गुरुकुन्दकुन्द के विरुद्ध अणुव्रत महाव्रत को विकार बतला कर उस पर पानी फेर रहे है क्योंकि वे खुद न तो अणुव्रत पालते हैं, न महाव्रत। अपने शिष्यों को भी अपने समान अविरती बनाये रखने के लिए आपने अणुव्रतों-महाव्रतों को विकार बतला दिया।

लेकिन कानजी भाई के शिष्य अन्ध-श्रद्धालु नहीं है, विवेकी हैं। उन्होंने कुन्दकुन्द आचार्य की आज्ञा मानकर व्रत धारण किये है जैसे पानीपत के जिनेन्द्र कुमार जी अब ११ वी प्रतिमाधारी, उत्तम श्रावक क्षु० जितेन्द्रसागर बन गये हैं। राजकोट के मूलशंकर तथा चुन्नीलाल जी देसाई और लाभानन्द जी (लाभविजय) ने सातवी प्रतिमा का आचरण किया है। परन्तु विवेकहीन भोले-भाले अन्ध-श्रद्धालु लोग या विषय-लोलुपी अथवा आशावान् लोभी चापलूस 'जी महाराज' कह कर हाँ में हाँ मिलाते हैं और बिना व्रत पालन किये मोक्ष-मार्ग पर दौड लगा कर मुक्त होने के स्वप्न देख रहे हैं।

कानजी भाई की सभ्यता तारीफ करने लायक है, आप समयसार प्रवचन, भाग तीसरा, पृ० ११ पक्ति ७ मे लिखते है।

"कल के भिखारी ने आज भेष बदल दिया, स्त्री, कुटुम्ब को छोड़ दिया तो इससे क्या वह त्यागी हो गया ? सबने मिलकर त्यागी मान लिया, तो क्या बाह्य संयोग-वियोग से त्याग है ? अन्तरंग मे कुछ परिवर्तन हुआ है या नही वह तो देख ! बाहर से दिखाई देता है कि आह कैसा त्यागी है ! स्त्री नही, बच्चे नही, जगल में रहता है—ऐसे बाह्य त्याग को देख कर बड़ा मानते है, लेकिन त्याग का क्या स्वरूप है उसे नही समझते।"

जैन धर्म मे तो भिखारी को मुनिदीक्षा दी नही जाती, न अभी तक किसी भिखारी ने भेष बदल कर मुनिदीक्षा ली है। लेकिन फिर भी कान जी भाई ने जनता को त्याग संयम के आदर्श दिगम्बर मुनिराजो से घृणा पैदा कराने के लिए कैसे घृणित शब्दों का इस्तेमाल किया है, यह उसका छोटा सा नमूना है। कानजी भाई भी पहले घरबार छोड़कर ढूंढिया साधु बने थे, तब क्या ऐसी बात नहीं थी। आपको कौन से दिव्य ज्ञान से मालूम हो गया कि गृहस्थ भेष बदलने वाले गृहत्यागी व्रती मुनियो का अन्तरंग अपने बहिरग के अनुसार नही है। दिगम्बर मुनियों के अखण्ड ब्रह्मचर्य को तथा त्याग तपस्या को प्रत्यक्ष सारा ससार साफ देखता है, यह ब्रह्मचर्य और तप बिना अन्तरग शुद्ध हुए कहाँ हो सकता है ? मनुष्य अपने मन की कमजोरियो को और मैल को दूसरे निर्मल मनुष्यो में भी देखने की कोशिश करता है, यह उसकी दूषित दोषग्राहिणी बुद्धि का फल है। मालूम ऐसा होता है कि कानजी भाई ने साधु भेष बदलकर अविरती भेष बनाया है इसलिए अपनी उस कमजोरी को छिपाने के लिए ऐसे हल्के दर्जे के प्रचार पर उतर पडे हैं।

मुनियो को ही नही आप तीर्थंकर अर्हन्त भगवान को, और

उनकी दिव्य-ध्वनि को भी आत्म-शुद्धि में सहायक नहीं मानते, इसके लिये आप समयसार प्रवचन पहला भाग के १२८ वें पृष्ठ पर कहते हैं—

"साक्षात् तीर्थंकर देव पृथक् है, और तू पृथक् है, उनकी वाणी अलग है। इसलिए वह तुझे कदापि सहायक नहीं हो सकती। ऐसा माने बिना स्वतन्त्र तत्त्व समझ में नही आयेगा।"

सहायक कारण हमेशा उपादान से पृथक् ही होता है। उसी तरह अर्हन्त भगवान और उनकी वाणी दर्शन करने वाले तथा वाणी सुनने वाले भव्य जीवो से पृथक् होकर भी उन असख्य प्राणियो का महा उपकार करती है। मोक्ष का मार्ग प्रकट करती है। तीर्थंकर संसार में महान **तरणतारण** होते है, धर्म का प्रचार उन्होंने ही किया है। कानजी भाई उन तीर्थंकरो को तथा उनकी वाणी को आत्म-उन्नति में सहायक न मानकर कृतज्ञता का उपहास कर रहे हैं और भोले लोगो को सच्चे देव की श्रद्धा से भ्रष्ट करने की कोशिश कर रहे है।

श्री चुन्नीलाल देसाई लिखित "**सोनगढ़ का कलंक**" पुस्तक के लेखानुसार सोनगढ में यह बात फैली हुई है कि पूर्वभव में कानजी भाई की आत्मा एक राजपुत्र के रूप में विदेह क्षेत्र में थी। वह राजपुत्र अपनी पत्नी के साथ उस वक्त भी सीमन्धर स्वामी के समवशरण मे मौजूद था जब कि श्री कुन्दकुन्द आचार्य विदेह मे सीमन्धर स्वामी के समवशरण में गये थे।" सीमन्धर स्वामी का दर्शन करके श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने तो मुनिचर्या के रूप में तथा समयसार आदि ग्रन्थ रचना के रूप मे स्वपर महा-कल्याण उसी समय कर लिया परन्तु आपने और आपकी पत्नी ने भगवान का साक्षात् दर्शन करके तथा उनकी वाणी सुनकर भी अपना कुछ आत्म-कल्याण नही किया, इसी कारण

आप और आपकी पत्नी सौराष्ट्र में पूर्व भव की तरह राजपुत्र भी न हुए। आपने साधुपद लिया वह भी छोड़ दिया और अब तक अविरती ही बने रहे। शायद आपने अपनी आप बीती कथा ऊपर लिखे शब्दो मे लिख डाली है, ऐसा मालूम होता है।

अगर तीर्थंकर जगत कल्याण मे सहायक न होते तो कुन्द-कुन्दाचार्य किस तरह अपना कल्याण और दुनिया का कल्याण कर पाते? आप अपने शुद्ध मन से कहिये कि क्या आप का कल्याण कुन्दकुन्द आचार्य के समयसार ग्रन्थ के निमित्त से नहीं हुआ?

मालूम होता है आपको सीमन्धर स्वामी के समवशरण में भी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ, वरना आप न तो इस भरत क्षेत्र मे जन्म लेते, जहाँ कि इस समय मुक्त होना बन्द है। और न आपके दिल में तीर्थंकर भगवान् की इतनी अश्रद्धा होती तथा इस समय भी यदि आप सम्यग्दृष्टि होते तो जगत-उद्धारक तीर्थंकर भगवान के लिए ऐसी उल्टी भक्ति की बात न लिखते।

महाव्रती चारित्र को व्यर्थ बताने के लिये आप समयसार प्रवचन के १६६ वें पेज पर लिखते हैं :—

"पंच महाव्रत का अनंतवार पालन किया और आहारादि के समय कठिन अभिग्रह (नियम) भी ग्रहण किये जैसे मोती नाम की बाई हो, मोती वाली छाप की साडी पहने हो और वह आहार की प्रार्थना करे तो ही आहार ग्रहण करूँ ऐसा कठिन अभिग्रह (नियम) भी अनन्तबार किया, संयम पालन किया, इन्द्रिय दमन किया, त्याग वैराग्य भी बहुत लिया, किन्तु अविकारी आत्मा की प्रतीति नही हुई। आत्मा को भूल कर मौन रहा और छह मास तक के उपवास भी किये, ऐसे साधन

अनतबार करने पर भी आत्म-स्वभाव प्रकट नही हुआ।"

कानजी भाईने अपने अविरती जीवन की महिमा प्रकारान्तर से बतलाकर मुनिचर्या को निरर्थक बतलाने के लिये ही शायद ये शब्द लिखे हैं। आप यह बात साफ बतलावे कि क्या बिना मुनिव्रत धारण किये कोई मुक्त हुआ है, या कभी मुक्त हो सकता है? जिन मुनियो को उस भव मे शुल्क-ध्यान मे न होने से मुक्ति नही मिल पाती वे मनुष्य, स्वर्ग, ग्रैवेयक आदि में उत्पन्न होते हैं। ग्रैवेयक मे भव्य-अभव्य सभी जाते हैं। "भावलिगी मुनि ग्रैवेयक में नही जाते," यह बात कौन से ग्रन्थ मे लिखी है? सम्यक्त्व होने से पहले नरक-आयु-बन्ध हो जाने पर तीर्थंकर प्रकृति वाला जीव भी नरक जा सकता है। इससे क्या मुनिव्रत या तीर्थंकर प्रकृति फिजूल हो गई?

मुक्ति पाने के लिए मुनिव्रत धारण करने का मार्ग अटल है, उस मार्ग पर चलना हर एक मोक्ष-अभिलाषी का कर्त्तव्य है। आपकी तरह अविरती जीव तो त्रिकाल मे भी मुक्त नही होते, ससारी ही बने रहते हैं। आत्म-स्वभाव यानी सम्यग्दर्शन सम्यग्-ज्ञान और भावलिगी सम्यक्चारित्र प्रकट होने वाले मुनि भी शुक्लध्यान हुए बिना उस भव से मुक्त नही हो पाते। इससे क्या सयम धारण करना फिजूल हो गया? कानजी स्वामी करणानुयोग चरणानुयोग के ग्रथ देखकर कभी भूठा भ्रम न फैलाये। दूसरे-मुनियो के अन्तरग को आप कैसे जान सकते है? जबकि आपको अवधि, मनपर्यय, केवल ज्ञान नही है। अपना अन्तरग देखकर आप बातें करे। आपके हृदय में सम्यग्दर्शन का मूल गुरुभक्ति या गुरु की श्रद्धा नही है तभी आप ऐसी अश्रद्धा की अनुचित बात लिखते हैं।

यदि कोई अभव्य जीव भी सब आरम्भ परिग्रह घरवार की

मोह-ममता छोड़, संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर मुनि बन जाता है, तपस्या करता है, लोगो को त्याग वैराग्य का आप से भी ज्यादा बढ़कर उपदेश देता है और अभव्य होने के कारण स्वयं मुक्त न होकर ग्रैवेयक मे जाता है, तो वह अपना तथा ससार का बुरा क्या करता है, कुछ न कुछ लाभ ही उठाता है। यदि वह मुनि बनकर सयमी न बनता, आपके समान अविरती ही बना रहता तो इतना ऊँचा न पहुँचता, जरा इसे भी तो सोचिये।

यदि किसी अभव्य या दूरातिदूर भव्य अथवा निकटभव्य ने अपनी आत्मा शुद्ध करने के खयाल से अनन्त बार भी महाव्रत पालन किया, तो इससे उसकी हानि क्या हुई ? आत्मशुद्धि के लिए संयमी न बनने वाले मिथ्यादृष्टि असयमी से तो वह फिर भी लाख दर्जे अच्छा है। परीक्षा मे फेल होकर बार-बार परीक्षा देने के लिए तैयारी करने वाला सदा आदर-सन्मान का पात्र होता है। ईर्ष्यालु, प्रमादी बेसमझ लोग ही उसकी हँसी उड़ाते हैं, सम्यग्ज्ञानी समझदार तो उसकी सराहना करते हैं। असफल मनुष्य यदि साहस और कोशिश नही छोडता तो प्रशसा का ही पात्र होता है। तपस्या और त्याग की निन्दा करते हुये आप ३०८ वे पृष्ठ पर लिखते हैं—

"बाह्य-तप परीषह इत्यादि क्रियाओ से मानता है कि मैंने महन किया है इसलिये मेरे धर्म हागा, किंतु उसकी दृष्टि बाह्य में है, इसलिये धर्म नहीं हो सकता।"

बाह्य-तप अन्तरग-तपों को तथा त्याग, वैराग्य को दृढ स्थिर करने के लिए किये जाते हैं। श्री आदिनाथ भगवान ने इसीलिये एक हजार वर्ष तक तपस्या की। कोई भी मुक्तिगामी जीव परिषह सहे बिना, बहिरग तप किये बिना अब तक मुक्त

नहीं हुआ। क्या बाह्य तप करने वाले भगवान ऋषभनाथ आदि अनन्त तपस्वी मुनियों की दृष्टि बाह्य पर ही रही थी ? किसी के अन्तरंग की बात जानने के लिए कानजी भाई के पास कौन सा दिव्य ज्ञान या पैमाना है ? खुद तप नही करते इसलिये वे खुद तपस्या का महत्व नही जानते और दूसरो को भी उधर न जाने देने का असत् प्रयत्न करते हैं। यह बात तो ऐसी है जैसे एक नकटा दूसरे आदमियो को नकटा बनाने के लिए कहता फिरता है कि नाक की ओट में भगवान नजर नही आता, नाक कट जाने पर ही भगवान का साफ साक्षात् दर्शन होता है। मुझे भगवान साफ दिखाई दे रहे हैं, अगर तुम लोग दर्शन करना चाहते हो तो मेरी तरह अपनी नाक कटवा दो।

धर्म की अटपटी परिभाषा

कानजी स्वामी समयसार प्रवचन तीसरे भाग के १४ वे पेज पर लिखते हैं—

"शुभ भावों से न तो धर्म होता है न मोक्ष मार्ग ही खुलता है।"

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बोध पाहुड की २५ वीं गाथा मे **दया भाव को धर्म** बतलाया है (धम्मो दयाविसुद्धो) मोक्ष-पाहुड़ की ६० वी गाथा मे अहिंसा को धर्म बतलाया है (हिंसा रहिये धम्मे)। अहिंसा धर्म की शाखा ही सत्य, अचौर्य आदि चार व्रत हैं। इसी तरह और आचार्यों ने भी अहिंसा को परम धर्म कहा है। इस अणुव्रत महाव्रत रूप अहिंसा को कानजी भाई **धर्म** नही मानते। यानी-आप धर्म की परिभाषा में कुन्द-कुन्द आचार्य को भी गलत ठहराने की कोशिश कर रहे है।

अहिसा धर्म आदि शुभ भाव ही आत्मा की शुद्धि गुणस्थान

के अनुसार बढ़ाते हुए पान्चवें, छठे गुणस्थान मे पहुँचा देते हैं। सातवें गुणस्थान के शुभ भाव का नाम धर्म-ध्यान है। उसी धर्म-ध्यान से शुक्लध्यान होता है, शुक्लध्यान से मोक्ष होता है। इस तरह शुभभाव परम्परा से मोक्ष के कारण हैं। परन्तु कानजी भाई पांचवे, छठे, सातवे गुणस्थान के शुभ भावो को मोक्ष-मार्ग भी नही मानते, जब कि मोक्ष-मार्ग चौथे गुणस्थान से ही खुल जाता है।

कानजी स्वामी बतलावे कि आप मोक्ष-मार्ग पर लगे हुए हैं या ससार मार्ग पर हैं? आपके शुभ भाव है या नही? क्योंकि शुद्ध भाव तो इस समय किसी के होते नही। तब आप अपने लिए शुभ भावों से धर्म कैसे मानते हैं? मोक्षमार्ग अपने लिये खुला हुआ कैसे समझते है, दूसरो के लिये शुभ भावो से धर्म होने का निषेध क्यो करते हैं? इस तरह मोक्ष-मार्ग सिर्फ आपके लिए है?

जड़-क्रिया

कानजी भाई अहिसा सत्य, उपवास आदि व्रत, तप, नियम आदि चारित्र को **जड़क्रिया** (यानी जड़ शरीर की क्रिया) कहते हैं, उनको आत्मा का कल्याण करने वाली धर्मक्रिया नही कहते। आप समयसार प्रवचन तीसरे भाग के १६४ वे पेज पर कहते हैं—

"आजकल जीव जड की क्रिया मे ही धर्म मान बैठे है। धर्म क्या है, इसकी उन्हे कोई खबर नही है, वे तो जिस तरफ का उपदेश सुनते हैं, उसी ओर 'हा जी हाँ' कहने लगते हैं। जैसे ध्वज पुच्छ जिधर की हवा होती उधर ही हिलता है, इसी प्रकार स्वय कुछ निर्णय न करके जहाँ का उपदेश सुनता है वही कहने लगता है कि—"सत्य वचन महाराज।"

अहिंसा आदिक व्रत और उपवास आदि तपो को अपने विषय कषाय तथा पाप-विकार दूर करने के लिए किया जाता है, इनको आत्मा बुद्धिपूर्वक करता है, फिर कानजी भाई उनको जड़क्रिया किस आधार से कह कर भ्रम फैलाते हैं। इसी भ्रम का यह बुरा नतीजा है कि—

कानजी स्वामी का परमभक्त, समयसार का प्रवचन करने वाला एक जाना पहचाना नौजवान अपनी सुन्दर पत्नी के रहते हुए दो अन्य स्त्रियों को भी बिना विवाह किए अपनी पत्नी बनाए हुए है। इस व्यभिचार को वह सिर्फ जडक्रिया समझता है, आत्मा से उसका सम्बन्ध नही मानता।

एक दूसरा कानजी-भक्त मुमुक्षु-भाई शास्त्र-सभा में शुद्ध आत्मा की चर्चा करता है और वेश्यागमन भी करता है। लेकिन वेश्यासेवन को जडक्रिया मानकर आत्मा से उसका कुछ सम्बन्ध नही समझता।

एक कानजो भक्त युवक प्रतिदिन शराब पीता है। लेकिन उसे जडक्रिया समझकर उससे आत्मा की कुछ हानि नही समझता।

अभी ग्वालियर से आए हुए कानजी स्वामी के एक श्रद्धालु परम भक्त ने चर्चा के दौरान मे कहा कि शराब तो जड़ शरीर पीता है, आत्मा से उसका कुछ सम्बन्ध नही है।

दुराचार को जडक्रिया के नाम पर करने वाले कानजी भक्त स्त्री-पुरुष के दो सच्चे उदाहरण और भी हैं।

इस तरह कानजी भाई ने दुराचार से बचाने वाले व्रतों को जडक्रिया बताकर जो भ्रम फैलाया है उस भ्रम का शिकार सब से पहले उनके शिष्य हो रहे है। व्यवहार चारित्र छुड़ा कर कानजी भाई ने अपने शिष्यों के लिए मोक्ष-मार्ग सरल कर दिया

है, उसी तरह ससार मार्ग भी निर्बाध कर दिया है।

बुद्धिमान स्त्री-पुरुष अपने आचार्यों के वाक्यो पर श्रद्धा रख कर जब अभक्ष्य-भक्षण तथा हिसा, व्यभिचार आदि को आत्मा का दुराचार समझते है और उसके त्याग को आत्मा का कल्याण-कारी धर्म समझकर उस दुराचार से बचे रहते हैं, तब अन्ध-श्रद्धालु भोले या विषय-लोलुपी लोग कानजी भाई के कहने को सच मानकर इसे जडक्रिया समझकर दुराचार से आत्मा की कोई हानि नही मानते। इससे बड़ा अनर्थ और क्या हो सकता है।

"आप डुबन्ता पंडिया ले डूबा यजमान।"

इसी से मिलती-जुलती बात कानजी भाई समयसार प्रवचन दूसरे भाग के ४६१ वे पेज लिखते है—

"शरीर, मन, वाणी और पुण्य पाप के भाव तेरा कुछ भी नहीं कर सकते। तू इससे पर है, वे तुझसे अत्यन्त भिन्न है, तुझ में पर पदार्थ नही हैं। इस प्रकार आत्यन्तिक रूप से निषेध किया है।"

सभी जैन शास्त्र अर्हन्त वाणी के अनुसार कहते हैं कि संसारी आत्मा अपने मन वचन काय के सहारे हिसादिक पाप करके नरक निगोद के दुख भोगता है और हिसादिक व्रत, दया, दान, पूजा आदि शुभकार्यों से धर्म करके सुख पाता है तथा क्रम से मोक्ष पा लेता है। सारा ससार ऐसा ही मानता है लेकिन कानजी भाई अपनी नई निराली तान सुनाते है, अगर मन वचन काय से पाप पुण्य नही होता तो आप प्रतिदिन लोगो को प्रवचन सुनाकर झूठे भ्रम मे क्यो डालते हैं? ससार में आत्मा जन्म मरण किस वजह से करता है?

कौन सा ऐसा संसारी आत्मा है जो मन, वचन, शरीर से अलग रहकर पाप पुण्य कर लेता है आप ही अपने जड़ शरीर

से अलग होकर पाप पुण्य या शुद्ध भाव करके दिखलाओ। कोई कानजी-भक्त मुमुक्षु भाई मैदान मे आकर अपने गुरु की बात सच्ची साबित कर दिखावे।

संसारी आत्मा से एक मिनट भी (एक मिनट में असख्यात समय होते हैं) शरीर का साथ छूटता नही। अगर शरीर की आँखें, कान, जीभ बिगड़ जाती हैं, हाथ पैर कट जाते हैं तो आत्मा भी अन्धा, बहरा, गूंगा, लूला, लगड़ा हो जाता है अच्छा रहते भी न देख सकता है, न सुन सकता है, न बोल सकता है। अगर द्रव्यमन या दिमाग बिगड़ जाय तो आत्मा पागल हो जाता है। फिर न सोच-विचार सकता है, न ध्यान कर सकता है।

एक बार कानजी भाई की आँखें दुखी तो वे कई दिन तक प्रवचन न कर सके। तार देकर जब राजकोट से निमित्त कारण डाक्टर को बुलाया गया तब उनकी उपादान आत्मा प्रवचन करने लायक बनी।

आपके इस गलत उपदेश का ही यह फल है कि आपके बहुत से कट्टर चेले होटलो में अशुद्ध भोजन करते हुए भी आत्मा का कुछ नुकसान नही समझते।

एक तो आज का जमाना वैसे ही सदाचार से गिरकर दुराचार और विषय भोगो का कीड़ा बन गया है, उसके ऊपर आप के ऐसे उलटे आध्यात्मिक उपदेश मिले तब तो फिर बेड़ा पार हो गया। फिर तो पाप कुछ चीज ही नही रहता। क्योंकि आत्मा अपने शरीर, वचन और मन से अलग है, जो कुछ करता है, शरीर करता है सो वह जड़ है। साख्यमत भी यही कहता है।

शायद आपका आत्मा मनुष्य के शरीर में कैद नहीं है। सिद्धालय में विराजमान है, यह उपदेश प्रवचन आत्मा से रहित

आपका जड़ शरीर किया करता है ? क्या विचित्र बे-सिर-पर की बात कह डाली। नास्तिक चार्वाक भी ऐसी ही बात कुछ हेर फेर से कहकर पुण्य पाप को कुछ नही मानता। आपकी इन बातों का समर्थन जैन शास्त्रों से नहीं होता, वहां मन वचन शरीर के द्वारा पुण्य पाप और क्रम से मुक्त होना बतलाया है।

कानजी भाई समयसार प्रवचन दूसरे भाग के ३६७ वें सफे पर लिखते हैं—

"सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के निमित्त भी पर हैं, उनका अवलम्बन भी शुभराग होने से स्वाधीन स्वभाव में सहायक नही है यह नग्न सत्य है।"

जब सच्चे देव गुरु शास्त्र का निमित्त पर (दूसरा) होने के कारण आत्मशुद्धि मे कुछ मदद नही कर सकता, तो पूर्वभव में विदेह क्षेत्र में आप अपनी पत्नी के साथ समवशरण मे क्यो गये थे। क्यो आपने यहाँ समयसार का स्वाध्याय किया और क्यो उसका प्रवचन लोगो को सुनाकर भ्रम मे डालते है, और क्यो मदिर बनवाकर उनमे अर्हन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान कराते है, पचकल्याणक प्रतिष्ठा भी क्यो कराई जाती है ? क्यो पूजा भक्ति आरती कराते हैं ? क्या यह सब कुछ लोगो को भ्रम मे डालने का सिर्फ ढोग है ? जैसे स्वामी दयानन्द जी ने वेदो का सहारा लेकर नया पन्थ चलाया, उसी तरह आप समयसार और मन्दिरों का सहारा लेकर एक ऐसा नया पथ चलाना चाहते हैं या चला रहे हैं, जो देव, गुरु, शास्त्र के निमित्त से आत्मा का कल्याण न मानने वाला होगा। मन्दिरो के नाम पर वह पंथ जनता को धोखा तो देगा लेकिन दरअसल में देव गुरु शास्त्र का श्रद्धालु न होगा, क्योंकि देव शास्त्र गुरु पर-द्रव्य हैं। पूजा स्तुति दिखावे के लिए करेगा, मन से नही

से नहीं करेगा। इस तरह आप अमृत का नाम लेकर विष को जनता में फैला रहे हैं, भोले लोग अमृत के धोखे में विष पीकर धर्म कर्म से भ्रष्ट बनने की तैयारी में है। क्या यही आपका असली जैनधर्म है ?

कुन्दकुन्द आचार्य मोक्षपाहुड़ (देवगुरुम्मि य भत्तो आदि ५२) आदि ग्रन्थो में देव गुरु शास्त्र को भव्य जीवों का कल्याण उदय करने वाला मानते है, कहते हैं। (देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं। बोधपाहुड़ २५) श्री वीरसेन आचार्य ने धवलसिद्धान्त (पुस्तक ६ पेज ४२७-४२८) में अर्हन्त भगवान की प्रतिमा के दर्शन के निमित्त से मिथ्यात्व आदि निकाचित कर्मों का क्षय होना बतलाया है। (जिनबिंबदसणेण निधत्तणिकाचिदस्स मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदसणादो) तब आप उस सिद्धान्त से उलटा पाठ पढ़ा कर देव गुरु शास्त्र की श्रद्धा से पब्लिक को भ्रष्ट करना चाहते हैं। भोली बेसमझ जनता आपको किस रूप मे याद करेगी।

जैन शास्त्रो में समाधिमरण की बड़ी महिमा बताई गई है। शिवकोटि आचार्य ने सिर्फ इसी विषय पर भगवती आराधना नामक एक बड़ा भारी ग्रन्थ बनाया है, जिसका सभी धर्मात्मा बड़ी भक्ति श्रद्धा से स्वाध्याय करते है, उस समाधिमरण की बाबत हमारे कानजी भाई समयसार प्रवचन दूसरे भाग के ३६६ वे सफे पर लिखते है—

"मरण के समय यदि सत्पुरुषों का समागम उनकी उपस्थिति हो तो वे मृत्यु को सुधार देंगे, वे मेरे भावों में सहायक हो सकते है, इस प्रकार जा मानता है उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा नहीं है।"

इस तरह आप समाधिमरण की तरफ से जनता का ख्याल हटाना चाहते हैं। प्रतिदिन पूजा करते समय सम्यग्दृष्टि जीव

'समाहिमरण च बोहिलाहो य' शब्दो द्वारा अपने अन्त समय में समाधिमरण की भावना करता है। समाधिमरण कराने के लिए अन्य मुनियो को सहायता देने का विधान आचार्य शिव-कोटि ने भगवती आराधना ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया है, कानजी स्वामी उस बात के खिलाफ लिख रहे हैं। कुत्ते को मरते समय जीवन्धर ने, बकरे को मरते समय चारुदत्त सेठ ने णमोकार मन्त्र सुनाकर उनका कल्याण किया, इन ऐतिहासिक घटनाओ पर कानजी भाई का ध्यान नहीं गया ?

मरते समय मनुष्य इतना निर्बल होता है कि उसके परिणामो को शान्त रखने के लिए अन्य लोगो द्वारा धर्म-उपदेश सुनाना, णमोकार मन्त्र, वैराग्यभावना, समाधिमरण पाठ आदि सुनाना बहुत जरूरी होता है जिससे उसके परिणामो में शान्ति प्राप्त हो, धर्मभावना जाग्रत हो। उसको कानजी भाई स्वतन्त्रता की श्रद्धा नही मानते।

प्रात· स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्ति-सागर जी महाराज ने ३६ दिन तक आहार त्यागकर धर्म आराधना के साथ वीर-मरण किया था। उसकी भी सराहना कानजी भाई ने तथा उनके शिष्यो ने नही की, यह उनकी गुरु-भक्ति और समाधिमरण का आर्षविधान न मानने का नमूना है।

क्रमबद्ध पर्याय का एकान्त

जैनधर्म अनेकान्तवादी-स्याद्वादी है, एकान्त हठवाद का निराकरण करता है लेकिन कानजी भाई उसी जैन सिद्धांत मे निश्चयनय का एकात, व्यवहार के असत्यार्थ का एकान्त, निमित्तकारण की निरर्थकता का एकान्त, क्रमबद्ध-पर्याय का

एकान्त, ऐसे कई एकान्त जबरदस्ती घुसेड़कर जैन सिद्धान्तको बिगाड़कर विकृत कर रहे हैं, उसको एकान्त मिथ्यात्व की कीचड़ में लपेटकर जनता को मार्ग-भ्रष्ट कर रहे हैं। समयसार प्रवचन पहले भाग के १२८वे सफे पर आप लिखते हैं—

"कोई किसी पर का कुछ कर नहीं सकता, किन्तु पर का जो होता है और जो होना है वह तो हुआ ही करेगा, तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करने का तो प्रश्न ही नही रहता।"

अगर किसी का कोई दूसरा मनुष्य कुछ नही कर सकता तो कानजी भाई आप क्यो रोज इतनी मेहनत प्रवचन के जरिए कर रहे हैं ? क्योंकि जिनका भला होना है, अपने आप हो जायगा। जो लोग धर्मभ्रष्ट, सिद्धान्तभ्रष्ट, देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा से भ्रष्ट, व्यवहार आचार (सदाचार) से भ्रष्ट होने हैं वे अपनी होनहार के अनुसार खुद हो जाएगे, किसी के उपदेश करने धरने से क्या फायदा ?

भूख मिटनी होगी तो खुद मिट जायगी, भोजन अपने आप पेट में पहुँच जायगा, भोजन के लिए भाग दौड़ करने की क्या जरूरत ? पुत्र होना होगा, धन आना होगा तो अपने आप हो जायगा, विवाह करने, व्यापार धन्धा करने की क्या जरूरत है ? ज्ञान आना होगा तो अपने आप आ जायगा, पाठशाला जाकर पढ़ने लिखने की क्या जरूरत है ? तीर्थयात्रा होनी होगी तो अपने आप हो जायगी, रेल, मोटर में बैठने की क्या आवश्यकता ? रेलगाड़ी चलनी होगी तो अपने आप चल देगी, ड्राइवर की क्या जरूरत ? कोयला पानी इकट्ठा करने और भाप पैदा करने की मेहनत क्यों की जावे ? और जब मोक्ष मिलनी होगी तब मोक्ष मिल जायगी व्रत तप संयम धारण करने की

क्या आवश्यकता ? वक्त आने पर सब कुछ अपने आप हो जायगा।

इन ऊपर की बातों में आपने व्रत तप संयम धारण के लिये तो होनहार को मान कर अमल किया है और इसीलिए कह देते हैं कि जब काल-लब्धि आवेगी तब अपने आप मुनि बन जायेंगे यानी-धोती का दृढ बन्धन अपने आप खुल कर नग्न भेष बन जायगा, बनियान अपने आप उतर जायगी। उसके सिवाय आप भोजन करने, टट्टी जाने, नहाने, धोने, सैर करने आदि में होनहार के कायल नहीं है, उनको खुद जान-बूझ कर करते हैं, उन बातों को भाग्य-भरोसे नहीं छोड़ते।

यहाँ पर आप इतना और बतला देते तो अच्छा होता कि कौन-सा ऐसा कर्म है जो आत्मा को मोक्ष, केवल ज्ञान आदि बिना पुरुषार्थ किये दे जाता है।

विद्यार्थी अध्यापक की सहायता से पढता है, माता-पिता के निमित्त से बच्चा पैदा होता है, गुरु के निमित्त से सत्श्रद्धा सत्-ज्ञान, सदाचार होता है, सत्संगति के कारण मनुष्य गुणी बनता है, कुसंगति के निमित्त से मनुष्य दुराचारी बना करता है, इत्यादि हजारो बाते साफ नजर आ रही हैं, फिर भी कानजी महाराज फरमाते है, "कोई दूसरा आदमी दूसरे का कुछ भला बुरा नही कर सकता।" कितना गलत सिद्धान्त है।

जैन धर्म ने बतलाया है कि कार्य की सिद्धि भाग्य और पुरुषार्थ दोनों से होती है, यह गाड़ी एक पहिए से नही चलती। कभी पुरुषार्थ बलवान होता है तो दैव (कर्म) को दबाकर अपनी कोशिश के अनुसार काम कर डालता है। जैसे ज्ञान बढ़ाना, आत्मशुद्धि करना, मोक्ष प्राप्त करना, व्यवहार के काम रात-दिन करना, रोगों का इलाज करना आदि।

कभी कर्म बलवान होता है तो पुरुषार्थ कामयाब नहीं होता जैसे अभव्य या दूरातिदूर भव्य मोक्ष नहीं जा पाता, व्यवहार में बहुत सी कोशिशें बेकार हो जाती हैं। इसीलिए जैन सिद्धान्त किसी एक ही पक्ष का एकान्त नहीं करता। लेकिन मनुष्य को सदा ठीक पुरुषार्थ करने, देव गुरु शास्त्र की श्रद्धा करने की, व्रत तप संयम चारित्र-पालन करने की प्रेरणा करता है। अगर हमारी बाहरी कोशिश के साथ अन्तरंग में मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम का निमित्त भी मिल जाता है तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र हो जाता है। अगर बाहरी कोशिश न करे तो भी काम नही बनता। इसलिए कभी भी सोते-सोते सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र किसी व्यक्ति को न हुआ, न होता है और न होगा।

इस तरह कानजी भाई क्रमबद्धपर्याय का एकान्त प्रचार करके भ्रम फैला रहे हैं।

हिंसा और अहिंसा

कानजी भाई ने हिंसा और अहिंसा के बारे में एक अनोखा भ्रम फैलाया है जिसको पढ़कर हमारे पाठक हैरान हो जायेंगे। हिंसा अहिंसा की परिभाषा करते हुए आप लिखते हैं कि—

"तू किसी जीव को मार नही सकता क्योंकि जीव का मरण आयु कर्म के क्षय हो जाने पर होता है। जब तू किसी दूसरे जीव का आयु कर्म छीन नही सकता, तब तू किसी जीव की हिंसा कैसे कर सकता है।"

इसी तरह—

"तू किसी जीव की रक्षा भी नही कर सकता क्योंकि जीवों का जीवन आयुकर्म के उदय से होता है। जब तू आयु कर्म किसी को दे नही सकता तब तू किसी जीव की रक्षा भी कैसे कर

सकता है।"

जो बात कुन्दकुन्द आचार्य ने मुनियों का हिंसा अहिंसा-विषयक अभिमान दूर कराने के उद्देश्य से समयसार में उपदेश रूप से कही है, श्री कानजी स्वामी ने उसका वह अभिप्राय बताकर भ्रमजनक सिद्धान्त बना दिया है। खैर।

मुझे उनकी इस बात से यह खुशी हुई है कि आप जो निमित्त कारण को अकार्यकारी निरर्थक मानते हैं और इसीलिए आपका सिद्धान्त है कि "आत्मा के सुखी दुखी, रागी द्वेषी परिणाम, जीवन मरण, स्वर्ग नरक जाना आदि द्रव्यकर्म वेदनीय मोहनीय आदि के उदय के निमित्त से नहीं होता, यह सब कुछ आत्मा की अपनी योग्यता से ही होता है।"

सो आपने अपना यह अटल सिद्धान्त हिंसा अहिंसा की व्याख्या करने में तोड़ दिया और साफ मान लिया कि "आत्मा आयु कर्म के उदय से जीता है, जन्म लेता है और आयु कर्म के खत्म होने के निमित्त से मरा करता है।"

इस तरह निमित्त उपादान के सहयोग से ही कार्य होने की सचाई को बरबस आप मान ही गये।

हिंसा अहिंसा की आपकी मान्यता गलत है। देखिये—

अपने आपको मारना, घायल करना या आत्महत्या करना तथा दूसरे जीव को मारना पीटना या जान से मार देना द्रव्य हिंसा है। द्रव्य हिंसा के लिए परिणाम करना भावहिंसा है।

भावहिंसा कभी अकेली भी होती है और कभी द्रव्यहिंसा के साथ भी होती है।

"संसारी जीवों का जन्म मरण आयु कर्म के अधीन है।" ऐसा भी एकान्त नहीं है। कर्मभूमि के मनुष्य (तीर्थंकर के

सिवाय) और पशु प्राणघातक दुर्घटनाओं से आयुकर्म बाकी रहते हुए भी अकाल में भी मर जाते हैं। ऐसी मौत को सर्वज्ञ भगवान ने अकाल मृत्यु बतलाया है। सभी आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थों में अकाल-मरण का विधान किया है। इसलिए पूरी आयु के क्षय होने से पहले भी किसी जीव को मारा जा सकता है। (निकाचित आयु वाला तथा अगले भव की आयु का बन्ध कर लेने वाला पूरी आयु भोग कर ही मरता है।)

बूचड़खानों में प्रतिदिन हजारों पशु मारे जाते हैं, उनमें से कोई भी नही बचता, लाखों मछलियाँ, चिड़ियाँ, सर्प, बिच्छू जंगली जानवर शिकारियों के हाथ मारे जाते हैं, इन में से अक्सर बेमौत (अकालमरण) मर जाते हैं। टिड्डीमार, मच्छरमार, चूहेमार, कुत्तेमार, गीदड़मार, बन्दरमार, कीटाणु-मार आदि बीसो तरह के आन्दोलनों से प्रतिदिन बे-गिनती जीव मारे जा रहे हैं। रेशम के कारखानों में लाखों करोड़ों कीडे रोज मारे जाते हैं। इन सब जीवो की हिंसा मनुष्य कर रहे हैं और वे जीव आयु कर्म पूरा होने से पहले ही अकालमृत्यु के रूप में मर जाते हैं।

इसी तरह रक्षा करने वाले दयालु मनुष्य गोशाला, पिजरा-पोल, अस्पताल आदि चालू करके हजारो जीवो को अकाल-मृत्यु से बचाते भी हैं।

इसलिये जीवो का मरना सर्वथा आयुकर्म के ही अधीन नही है, हिसक जीवो के भी अधीन है।

इस कारण हिसा अहिसा का मतलब जो कानजी स्वामी बतलाते है, वह गलत है, भ्रम फैलाने वाला है।

अगर कोई जीव किसी जीव को मार ही न सके तो फिर संसार मे कोई हिंसक नहीं रहेगा, तब नरक निगोद में हिंसा

के कारण जाना बन्द हो जायगा। सभी देशो की सरकारों को मानवीय हत्या के कारण फाँसी की सजा देना बन्द करना पड़ेगा फिर तो किसी को भी कसाई, चांडाल, हत्यारा न माना जायगा। मांसभक्षी मनुष्य, शेर चीते भेड़िये भी हिंसक न माने जायेंगे।

अतः हर तरह से आपकी मान्यता गलत है और भ्रम फैलाने वाली है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार में तथा चारित्रपाहुड़ में त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करने को अहिंसा धर्म बतलाया है। अन्य आचार्यों ने भी अहिंसा की परिभाषा ऐसी ही की है। दूसरे जीवो के तथा अपने द्रव्य प्राणो और भाव प्राणों के घात करने को हिंसा सभी आचार्यों ने बतलाया है।

आज से २५०० वर्ष पहले धर्म के नाम पर भारत देश मे जीवित पशुओं को मार कर यज्ञ किये जाते थे। तब भगवान महावीर ने अहिसा धर्म का प्रचार करके भारतवर्ष से उस हिसाकृत्य को मिटाया था। 'अगर कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार ही नही सकता।' तो अर्हंत सर्वज्ञ महावीर भगवान को सब जगह विहार कर के अहिंसा धर्म का उपदेश देने की क्या जरूरत थी ?

इस तरह कानजी स्वामी जैन सिद्धान्त के खिलाफ ऐसा गलत प्रचार कर रहे है, जिससे भोले भाले कमसमझ स्त्री-पुरुष जैनधर्म के श्रद्धानसे, ज्ञानसे और आचरणसे भ्रष्ट हो जावेगे।

इसलिये कानजी स्वामी को दूरदर्शी बनकर धर्म का सही प्रचार करना चाहिये।

आशा है कानजी स्वामी और उनके भक्त लोग मेरे इस निवेदन पर विचार करके स्व-पर-हितका रास्ता अपनावेगे।

नियत अनियतवाद

[दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान्, न्यायकुमुदचन्द्रोदय, प्रमेयकमल-मार्तण्ड, तत्त्वार्थराजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चयटीका, न्याय-विनिश्चयविवरण आदि महान ग्रन्थो के सम्पादक तथा जैन-दर्शन के लेखक दिवङ्गत डा० श्री पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य एम० ए० हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस लिखित तत्वार्थवृत्ति प्रस्तावना से]

नियताऽनियतत्ववाद—जैन दृष्टि से द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके प्रतिक्षण के परिणमन अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। एक द्रव्य की उस समय की योग्यता से जितने प्रकार के परिणमन हो सकते हैं उनमें से कोई भी परिणमन जिसके निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी, हो जायगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य की शक्तियाँ तथा उनसे होने वाले परि-णामनो की जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गल के परिणमन जीव में तथा जीव के परिणमन पुद्गल में नहीं हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अतः नियतत्व और अनियतत्व दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अपेक्षा भेद से सम्भव हैं।

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का ही खेल यह जगत है। इनकी अपनी द्रव्य शक्तियाँ नियत हैं। ससार मे किसी की शक्ति नहीं जो द्रव्य शक्तियों में से एक को भी कम कर सके या एक को बढ़ा सकें। इनका आविर्भाव और तिरोभाव पर्याय के कारण होता रहता है। जैसे मिट्टी पर्याय को प्राप्त पुद्गल से तेल नहीं निकल सकता, वह सोना नहीं बन सकता, यद्यपि तेल और सोना भी पुद्गल ही बनता है, क्योंकि मिट्टी पर्याय वाले पुद्गलों की वह योग्यता तिरोभूत है, उसमें घट आदि बनने की, अंकुर को उत्पन्न करने की, बर्तनों के शुद्ध करने की, प्राकृतिक

चिकित्सा में उपयोग आने की आदि पचासों पर्याय योग्यताएँ विद्यमान हैं। जिसकी सामग्री मिलेगी अगले क्षण में वही पर्याय उत्पन्न होगी। रेत भी पुद्गल है पर इस पर्याय में घड़ा बनने की योग्यता तिरोभूत है, अप्रकट है, उसमें सीमेंट के साथ मिल कर दीवाल पर पुष्ट लेप करने की योग्यता प्रकट है, वह कांच बन सकती है या बही पर लिखी जाने वाली काली स्याही का शोषण कर सकती है। मिट्टी पर्याय में ये योग्यताएँ अप्रकट हैं। तात्पर्य यह है कि :—

(१) प्रत्येक द्रव्य की मूलद्रव्यशक्तियाँ नियत हैं। उनकी सख्या में न्यूनाधिकता कोई नही कर सकता। पर्याय के अनुसार कुछ शक्तियाँ प्रकट रहती हैं और कुछ अप्रकट। इन्हे पर्याय योग्यता कहते हैं। (२) यह नियत है कि चेतन का अचेतनरूप से तथा अचेतन का चेतन रूप से परिणमन नहीं हो सकता। (३) यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्य का दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूप से परिणमन नहीं हो सकता।.(४) यह भी नियत है कि दो चेतन मिल कर एक सयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते जैसे कि अचेतन परमाणु मिल कर अपनी सयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं। (५) यह भी नियत है कि द्रव्य में उस समय जितनी पर्याय योग्यताएं है उनमे जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन आगे होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्भाव में रहेंगी। (६) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य का कोई न कोई परिणमन अगले क्षण में अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल योग्यताओ और पर्यायगत प्रकट योग्यताओ की सीमा के भीतर ही होगा बाहर कदापि नही। (७) यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्य की योग्यता का ही विकास करता है,

उसमें नूतन सर्वथा असद्भूत परिणमन उपस्थित नहीं कर सकता। (८) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणमन का उपादान होता है। उस समय की पर्याय योग्यता रूप उपादान शक्ति की सीमा के बाहिर का कोई परिणमन निमित्त नहीं ला सकता। परन्तु—

(१) यही एक बात अनियत है कि '**अमुक समय में अमुक परिणमन ही होगा।**' मिट्टी की पिंड पर्याय मे घड़ा सकोरा सुराही दीपक आदि अनेक पर्यायों के प्रकटाने की योग्यता है। कुम्हार की इच्छा और क्रिया आदि का निमित्त मिलने पर उनमें से जिसकी अनुकूलता होगी वह पर्याय अगले क्षण में उत्पन्न हो जायगी। यह कहना कि 'उस समय मिट्टी की यही पर्याय होनी थी, उनका मेल भी सद्भाव रूप से होना था, पानी की यही पर्याय होनी थी' द्रव्य और पर्यायगत योग्यता के अज्ञान का फल है।

नियतिवाद नही—जो होना होगा, वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नही है, इस प्रकार के निष्क्रिय नियतिवाद के विचार जैनतत्त्व स्थिति के प्रतिकूल हैं। जो द्रव्यगत शक्तिया नियत हैं उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नही, हमारा पुरुषार्थ तो कोयले की हीरा पर्याय के विकास कराने में है। यदि कोयले के लिए उसकी हीरापर्याय के विकास के लिए आवश्यक सामग्री न मिले तो या तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानि में ही पडे-पडे समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नही है कि जिसमें उपादान शक्ति नही है उसका परिणमन भी निमित्त से हो सकता है या निमित्त में यह शक्ति है जो निरुपादान को परिणमन करा सके।

नियतिवाद-दृष्टिविष—एक बार 'ईश्वरवाद' के विरुद्ध छात्रों ने एक प्रहसन खेला था। उसमें एक ईश्वरवादी राजा था, जिसे यह विश्वास था कि ईश्वर ने समस्त दुनिया के पदार्थों का कार्यक्रम निश्चित कर दिया है। प्रत्येक पदार्थ की अमुक समय में यह दशा होगी इसके बाद यह, सब सुनिश्चित है। कोई अकार्य होता तो राजा सदा यह कहता था कि—'हम क्या कर सकते हैं ? ईश्वर के नियतिचक्र में हमारा हस्तक्षेप उचित नही "ईश्वर की मर्जी"। एक बार कुछ गुण्डो ने राजा के सामने ही रानी का अपहरण किया। जब रानी ने रक्षार्थ चिल्लाहट शुरू की और राजा को क्रोध आया तब गुण्डों के सरदार ने जोर से कहा—"ईश्वर की मर्जी" राजा के हाथ ढीले पडते है और वे गुण्डे रानी को उसके सामने ही उठा ले जाते है। गुण्डे रानी को भी समझाते हैं कि 'ईश्वर की मर्जी यही थी' रानी भी विधिविधान मे अटल विश्वास रखती थी और उन्हे आत्म-समर्पण कर देती है। राज्यमें अव्यवस्था फैलती है और परचक्र का आक्रमण होता है और राजा की छाती में दुश्मन की जो तलवार घुसती है वह भी 'ईश्वर की मर्जी'। इस जहरीले विश्वासविष से बुझी हुई थी और जिसे राजा ने विधि-विधान मान कर ही स्वीकार किया था। राजा और रानी गुण्डो और शत्रुओं के आक्रमण के समय "ईश्वर की मर्जी" "विधि का विधान" इन्ही ईश्वरास्त्रो का प्रयोग करते थे और ईश्वर से ही रक्षा की प्रार्थना करते थे। पर न मालूम उस समय ईश्वर क्या कर रहा था ? ईश्वर भी क्या करता ? गुण्डे और शत्रुओ का कार्यक्रम भी उसी ने बनाया था और वे भी 'ईश्वर की मर्जी' और 'विधिविधान' की दुहाई दे रहे थे। इस ईश्वरवाद मे इतनी गु जाइश थी कि यदि ईश्वर चाहता

तो अपने विधान में कुछ परिवर्तन कर देता। आज श्री कानजी स्वामी की 'वस्तुविज्ञानसार' पुस्तक को पलटते समय उस प्रहसन की याद आ गई और ज्ञात हुआ कि यह नियतिवाद का कालकूट 'ईश्वरवाद' से भी भयंकर है। ईश्वरवाद में इतना अवकाश है कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वर के विधान में हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मों के अनुसार ही फल का विधान करता है। पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ' का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्म की शक्कर में लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी साप के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवादो कालकूट का इस भीषण दृष्टि विष का कोई उपाय नहीं, क्योंकि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय नियत है।

मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकान्त विष को अनेकान्त अमृत के नाम से कोमलमति नई पीढ़ी को पिला कर उन्हे अनन्त पुरुषार्थी कह कर सदा के लिए पुरुषार्थ से विमुख किया जा रहा है।

पाप और पुण्य क्यों ?—जब प्रत्येक जीव का प्रति समय का कार्यक्रम निश्चित है, अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नही है, तब क्या पुण्य और क्या पाप ? किसी मुसलमान ने जैनप्रतिमा तोड़ी, तो जब मुसलमान को उस समय प्रतिमा को तोड़ना ही था, प्रतिमा को उस समय टूटना ही था, सब कुछ नियत था तो बेचारे मुसलमान का क्या अपराध ? वह तो नियति-चक्र का दास था। एक याज्ञिक ब्राह्मण बकरे की बलि चढ़ाता है तो क्यों उसे हिंसक कहा

जाय—'देवी की ऐसी ही पर्याय होनी थी, बकरे के गले को कटना ही था, छुरे को उसकी गर्दन के भीतर घुसना ही था, ब्राह्मण के मुँह में मांस जाना ही था, वेद में ऐसा ही लिखा जाना था, इस तरह पूर्वनिश्चित योजनानुसार जब घटनाएँ घट रही हैं तो उस बेचारे को क्यो हत्यारा कहा जाय? हत्याकाण्ड रूपी घटना अनेक द्रव्यों के सुनिश्चित परिणमन का फल है। जिस प्रकार ब्राह्मण के छुरे का परिणमन बकरे के गले के भीतर घुसने का नियत था उसी प्रकार बकरे के गले का परिणमन भी अपने भीतर छुरा घुसवाने का निश्चित था। जब इन दोनों नियत घटनाओं का परिणाम बकरे का बलिदान है तो इसमें क्यों ब्राह्मण को हत्यारा कहा जाय? किसी स्त्री का शील भ्रष्ट करने वाला व्यक्ति क्यों दुराचारी गुण्डा कहा जाय? स्त्री का परिणमन ऐसा ही होना था और पुरुष का भी ऐसा ही, दोनो के नियत परिणमनो का नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था फिर उसे गुण्डा और दुराचारी क्यों कहा जाय? इस तरह इस श्रोत्र विषरूप (जिसके सुनने से ही पुरुषार्थहीनता का नशा आता है) नियतिवाद मे जब अपने भावों का भी कर्तृत्व नहीं है अर्थात् ये भाव सुनिश्चित हैं तब पुण्य-पाप, हिंसा-अहिंसा, सदाचार-दुराचार, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन क्या?

गोडसे हत्यारा क्यों?—यदि प्रत्येक द्रव्य का प्रति समयका परिणमन नियत है, भले ही वह हमे न मालूम हो, तो किसी कार्य को पुण्य और किसी कार्य को पाप क्यो कहा जाय? नाथूराम गोडसे ने महात्माजी को गोली मारी, तो क्यों नाथूराम को हत्यारा कहा जाय? नाथूराम का उस समय वैसा ही परिणमन होना था। महात्माजी का भी वैसा ही होना था और गोलीका और पिस्तौल का भी वैसा ही परिणमन निश्चित था।

अर्थात् हत्या नाथूराम, महात्माजी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थों के नियत कार्यक्रम का परिणाम है। इस घटना से सम्बद्ध सभी पदार्थों के परिणमन नियत थे और उस सम्मिलित नियति का परिणाम हत्या है। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्माजी के प्राणवियोगरूप परिणमन में निमित्त हुआ है, अतः अपराधी है तो महात्माजी को नाथूराम के गोली चलाने में निमित्त होने पर क्यों न अपराधी ठहराया जाय ? जिस प्रकार महात्माजी का परिणमन निश्चित था उसी प्रकार नाथूराम का भी। दोनों नियतिक्रम के सामने समानरूप से दास थे। सो यदि नियतिदास नाथूराम हत्या का निमित्त होने से दोषी है, तो महात्माजी भी नाथूराम की गोली चलाने रूप पर्याय में निमित्त होने से दोषी क्यों नही ? इन्हें जाने दीजिए, हम तो यह कहते हैं कि—पिस्तौल से गोली निकलनी थी और गोली को गांधी जी की छाती में घुसना था इसलिए नाथूराम और महात्माजी की उपस्थिति हुई। नाथूराम तो गोली और पिस्तौल के उस अवश्यम्भावी परिणमन का एक निमित्त था जो नियतिचक्र के कारण वहाँ पहुँच गया। जिनकी नियति का परिणाम हत्या नाम की घटना है। वे सब पदार्थ समानरूप से नियतिचक्र से प्रेरित होकर उस घटना में अपने अपने नियत भवितव्य के कारण उपस्थित हैं। अब उनमें क्यों मात्र नाथूराम को पकड़ा जाता है ? बल्कि हम सबको उस दिन ऐसी खबर सुननी थी और श्री आत्माचरण को जज बनना था इसलिए वह सब हुआ। अतः हम सबको और आत्माचरण को ही पकड़ना चाहिए। अतः इस नियतिवाद में न कोई पुण्य है न पाप, न सदाचार न दुराचार। जब कर्तृत्व ही नहीं तब क्या सदाचार क्या दुराचार ? नाथूराम गोडसे को नियतिवाद के आधार पर ही अपना बचाव करना चाहिए था,

ओर सीधा आत्माचरण के ऊपर टूटना चाहिए था कि चूँकि तुम्हें हमारे मुकदमे का जज होना था इसलिए इतना बड़ा नियतिचक्र चला और हम सब उसमें फंसे। यदि सब चेतनों को छुड़ाना है तो पिस्तौल के भवितव्य को दोष देना चाहिए। न पिस्तौल का उस समय वैसा परिणमन होना होता, न वह गोडसे के हाथ में आती और न गांधीजी की छाती छिदती। सारा दोष पिस्तौल के नियत परिणमन का है। तात्पर्य यह कि इस नियतिवाद में सब साफ है। व्यभिचार, चोरी, दगाबाजी और हत्या आदि सब कुछ उन उन पदार्थों के नियत परिणमन के परिणाम है, इसमें व्यक्तिविशेष का क्या दोष? अतः इस सत्-असत् लोपक, पुरुषार्थ-विघातक नियतिवाद विष से रक्षा करनी चाहिए।

नियतिवाद में एक ही प्रश्न एक ही उत्तर—नियतिवाद में एक उत्तर है—'ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही' इसमें न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। वस्तुव्यवस्था में इस प्रकार के मृत विचारों का क्या उपयोग? जगत् में विज्ञानसम्मत कार्यकारणभाव है। जैसी उपादान योग्यता और जो निमित्त होंगे तदनुसार चेतन-अचेतन का परिणमन होता है। पुरुषार्थ, निमित्त और अनुकूल सामग्री के जुटाने मे है। एक अग्नि है, पुरुषार्थी यदि उसमें चन्दन का चूरा डाल देता है तो सुगन्धित धुआँ निकल कर कमरे को सुवासित कर देता है, यदि बाल आदि पड़ते हैं तो दुर्गन्धित धुआँ उत्पन्न हो जाता है। यह कहना अत्यन्त भ्रान्त है कि चूरा को उसमें पड़ना था, पुरुष को उसमें डालना था, अग्नि को उसे ग्रहण करना ही था इसमें यदि कोई 'हेर-फेर करता है तो नियतिवादी का वही उत्तर कि "ऐसा ही होना था।" मानो जगत् के परिणमनों को 'ऐसा ही होना था' इस नियति-पिशाचिनी ने

अपनी गोद में सभी कुछ ले रखा हो।

नियतिवादमें स्वपुरुषार्थ भी नहीं—नियतिवाद में अनन्त पुरुषार्थ की बात तो जाने दीजिए स्वपुरुषार्थ भी नहीं है। विचार तो कीजिये जब हमारा प्रत्येक क्षणका कार्यक्रम सुनिश्चित है और अनन्तकाल का, उसमें हेरफेर का हमको भी अधिकार नही है तब हमारा पुरुषार्थ कहाँ ? और कहां हमारा सम्यग्दर्शन ? हम तो एक महानियति-चक्र के अंश हैं और उसके परिचलन के अनुसार प्रति क्षण चल रहे हैं। यदि हिंसा करते हैं तो नियत है, व्यभिचार करते हैं तो नियत है, चोरी करते हैं तो नियत है, पापचिन्ता करते हैं तो नियत है। हमारा पुरुषार्थ कहाँ होगा ? कोई भी क्षण इस नियतिभूत की मौजूदगी से रहित नही है, जबकि हम सांस लेकर कुछ अपना भविष्य निर्माण कर सकें।

भविष्य निर्माण कहाँ ? इस नियतिवाद में भविष्य निर्माण की सारी योजनाएँ हवा हैं। जिसे हम भविष्य कहते है वह भी नियतिचक्र मे सुनिश्चित है और होगा ही। जैन दृष्टि तो यह कहती है कि—तुममे उपादान योग्यता प्रति समय अच्छे और बुरे बनने की, सत् और असत् होने की है, जैसा पुरुषार्थ करोगे, जैसी सामग्री जुटाओगे, अच्छे बुरे भविष्य का निर्माण स्वयं कर सकोगे।" पर जब नियतिचक्र, निर्माण करने की बात पर ही कुठाराघात करके उसे नियत या सुनिश्चित कहता है तब हम क्या पुरुषार्थ करे ? हमारा हमारे ही परिणमन पर अधिकार नही है क्योंकि वह नियत है। पुरुषार्थ-भ्रष्टताका इससे व्यापक उपदेश इससे अधिक दूसरा नहीं हो सकता। इस नियतिचक्र में सबका सब कुछ नियत है, उसमें अच्छा क्या ? बुरा क्या ? हिंसा क्या अहिंसा क्या ?

सबसे बड़ा अस्त्र सर्वज्ञत्व—नियतिवादी या तथोक्त अध्या-

त्मवादियों का सबसे बड़ा तर्क है कि—'सर्वज्ञ है या नहीं ? यदि सर्वज्ञ है तो वह त्रिकालज्ञ होगा अर्थात् भविष्यज्ञ भी होगा। फलतः वह प्रत्येक पदार्थ का अनन्तकाल तक प्रति क्षण जो होना है उसे ठीक रूप में जानता है। इस तरह प्रत्येक परमाणु की प्रतिसमय की पर्याय सुनिश्चित है उनका परस्पर जो निमित्त-नैमित्तिकजाल है वह भी उसके ज्ञानके बाहिर नहीं है। सर्वज्ञ मानने का दूसरा अर्थ है नियतिवादी होना। पर, आज जो सर्वज्ञ नहीं मानते उनके सामने हम नियतितन्त्र को कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? जिस अध्यात्मवाद के मूल मे हम नियतिवाद को पनपाते है उसे अध्यात्मदृष्टि से सर्वज्ञता व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनयसे तो आत्मज्ञता में ही उसका पर्यवसान होता है, जैसाकि आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार (गा० १५८) में लिखा है—

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

अर्थात्—केवली भगवान् व्यवहारनय से सब पदार्थों को जानते देखते है। निश्चय से केवलज्ञानी अपनी आत्मा को ही जानता देखता है।

अध्यात्मशास्त्रगत निश्चयनय की भूतार्थता और परमार्थता तथा व्यवहारनयकी अभूतार्थता और अपरमार्थता पर विचार करने से तो अध्यात्मशास्त्र मे पूर्णज्ञानका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञान मे ही होता है। अतः सर्वज्ञत्व की दलीलका अध्यात्म-चिन्तनमूलक पदार्थव्यवस्था में उपयोग करना उचित नही है।

समग्र और अप्रतिबद्ध कारण ही हेतु—अकलंक देव ने उस कारण को हेतु स्वीकार किया है जिसके द्वितीयक्षण में नियम से कार्य उत्पन्न हो जाय। उसमें भी यह शर्त है कि जब उसकी

शक्ति में कोई प्रतिबन्ध उपस्थित न हो तथा–सामग्री-अन्तर्गत अन्य कारणों की विकलता न हो। जैसे अग्नि धूमकी उत्पत्ति में अनुकूल कारण है पर यह तभी कारण हो सकती है, जब इसकी शक्ति किसी मन्त्र आदि प्रतिबन्धक ने न रोकी हो तथा धूमोत्पादक सामग्री-गीला ईंधन आदि पूरे रूप से विद्यमान हो। यदि कारण का अमुक कार्यरूप में परिणमन नियत हो तो प्रत्येक कारण को हेतु बनाया जा सकता था। पर कारण तब तक कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता जब तक उसकी सामग्री पूर्ण न हो और शक्ति अप्रतिबद्ध न हो। इसका स्पष्ट अर्थ है कि शक्ति की अप्रतिबद्धता और सामग्री की पूर्णता जब तक नही होगी तब तक अमुक अनुकूल भी कारण अपना अमुक परिणमन नही कर सकता। अग्नि में यदि गीला ईंधन डाला जाय तो ही धूम उत्पन्न होगा अन्यथा वह धीरे-धीरे राख बन जायगी। यह बिल्कुल निश्चिय नहीं है कि उसे उस समय राख बनना ही है या धूम पैदा करना ही है। यह तो अनुकूल सामग्री जुटाने की बात है। जिस परिणमन की सामग्री जुटेगी वही परिणमन उसका होगा।

रागादि का पुद्गलत्व—अध्यात्म शास्त्र में रागादि को परभाव और पौद्गलिक बताया है। इसका कारण भी यह बताया गया है कि चूंकि ये भाव पुद्गल निमित्त से होते हैं अतः पुद्गलावलम्बन होने से पौद्गलिक हैं। सर्वार्थसिद्धि मे भाव मन को इसीलिए पौद्गलिक बताया है कि वह पुद्गल-निमित्तक या पुद्गलावलम्बन है। रागादि या भावमन में उपादान तो आत्मा ही है, आत्मा ही का परिणमन रागादि रूप से होता है। यहाँ स्पष्टतः पुद्गल का या पर-द्रव्य का सबल निमित्तत्व स्वीकृत है। पर को निमित्त हुए बिना रागादि को परभाव कैसे कहा जा सकता है ? अतः अध्यात्म भी 'उभय कारणों से कार्य

होता है' इस सर्व-सम्मत कार्यकारण भाव का निषेध नहीं करता। "**सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्**" अर्थात् सामग्री से कार्य होता है, एक कारण से नहीं, यह अनुभवसिद्ध कार्यकारण व्यवस्था है। कार्य उभय-जन्य होने पर भी चूँकि अध्यात्म उपादान का सुधार करना चाहता है अत. उपादान पर ही दृष्टि रखता है, और वह प्रतिसमय अपने मूल स्वरूप की याद दिलाता रहता है कि **तेरा वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध है, यह रागादि कुभाव पर-निमित्त से उत्पन्न होते हैं, अतः परनिमित्तों को छोड़। इसी में अनन्त पुरुषार्थ है, न कि नियतिवाद की निष्क्रियता में।**

उभय कारणों से कार्य—कार्योत्पत्ति के लिए दोनों ही कारण चाहिए उपादान और निमित्त, जैसा कि अनेकान्तदर्शी स्वामी समन्तभद्र ने कहा है कि '**यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभि.।**' अर्थात् कार्य बाह्य-अभ्यन्तर दोनों कारणो से होता है। वे बृहत्स्वयंभू स्तोत्र के वासुपूज्य स्तवन में और भी स्पष्ट लिखते हैं कि—

"**यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।**
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमभ्यन्तर केवलमप्यल न॥"

अर्थात् अन्तरंग मे विद्यमान मूलकारण अर्थात् उपादान योग्यता के गुण और दोष प्रकट करने मे जो बाह्य वस्तु कारण होती है वह उस उपादान के लिये अगभूत अर्थात् सहकारी कारण है। केवल अभ्यन्तर कारण अपने गुणदोष की उत्पत्ति मे समर्थ नही है। भले ही अध्यात्मवृत्त पुरुष के लिए बाह्यनिमित्त गौण हो जाँय पर उनका अभाव नही हो सकता। वे अन्त में उपसहार करते हुए और भी स्पष्ट लिखते है—

"**बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।**
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥"

अर्थात् कार्योत्पत्ति के लिए बाह्य और आभ्यन्तर, निमित्त और उपादान दोनों कारणों की समग्रता पूर्णता ही द्रव्यगत निज स्वभाव है। इसके बिना मोक्ष नहीं हो सकता है।

इस उभयकारणों की स्पष्ट घोषणा के रहते हुए भी केवल नियतिवादैकान्त का पोषण अनेकान्त दर्शन और अनन्त पुरुषार्थ का रूप नहीं ले सकता।

यही अनाद्यनन्त वैज्ञानिक कारण-कार्यधारा ही द्रव्य है जिसमें पूर्वपर्याय अपनी सामग्री के अनुसार सदृश, विसदृश, अल्प-सदृश आदि रूप से अनेक पर्यायों की उत्पादक होती है। मान लीजिए एक जलबिन्दु है उसकी पर्याय बदल रही है, वह प्रति-क्षण जलबिन्दु रूप से परिणमन कर रही है पर यदि गरमी का निमित्त मिलता है तो तुरन्त भाप बन जाती है। किसी मिट्टी मे यदि पड गई तो सम्भव है पृथिवी बन जाय। यदि सांप के मुँह मे चली गई तो जहर बन जायगी। तात्पर्य यह कि एक धारा पूर्व उत्तर पर्यायों की बहती है उसमें जैसे-जैसे सयोग होते जायगे उसका उस जाति मे परिणमन हो जायगा। गंगा की धारा हरिद्वार में जो है वह कानपुर मे नही। वह और कान-पुर की गटर आदि का संयोग पाकर इलाहाबाद मे बदली और इलाहाबाद की गन्दगी आदि के कारण काशी की गंगा जुदी ही हो जाती है। यहाँ यह कहना कि "गगा के जल के प्रत्येक परमाणु का प्रति समय का सुनिश्चित कार्यक्रम बना हुआ है उसका जिस समय जो परिणमन होना है वह होकर ही रहेगा" द्रव्य की विज्ञान-सम्मत कार्यकारण परम्परा के प्रतिकूल है।

समयसार में निमित्ताधीन उपादान परिणमन—समयसार (गा० ८६।८८) में जीव और कर्म का परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बताते हुए लिखा है कि—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ।।
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोणणिमित्तेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।।
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।"

अर्थात्—जीव के भावों के निमित्त से पुद्गलों की कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव रागादि रूप से परिणमन करता है। इतना समझ लेना चाहिए कि जीव उपादान बन कर पुद्गल के गुण रूप से परिणमन नहीं कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीव के गुणरूप से परिणति कर सकता है। हाँ, परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के अनुसार दोनों का परिणमन होता है। इस कारण उपादान दृष्टि से आत्मा अपने भावों का कर्त्ता है, पुद्गल के ज्ञानावरणादि रूप द्रव्य कर्मात्मक परिणमन का कर्त्ता नहीं है।

इस स्पष्ट कथन से कुन्दकुन्दाचार्य की कर्तृत्व-अकर्तृत्व की दृष्टि समझ में आ जाती है। इसका विशद अर्थ यह है कि—प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन मे उपादान है, दूसरा उसका निमित्त हो सकता है, उपादान नही। परस्पर निमित्त से दोनों उपादानों का अपने-अपने भाव रूप से परिणमन होता है। इसमे निमित्त-नैमित्तिक भाव का निषेध कहाँ है ? निश्चय दृष्टि से परनिरपेक्ष आत्मस्वरूप का विचार है। उसमें कर्तृत्व अपने उपयोग रूप में ही पर्यवसित होता है। अतः कुन्दकुन्द के मत से अध्यात्म में द्रव्यस्वरूप का वही निरूपण है जो आगे समन्तभद्रादि आचार्यों ने अपने ग्रन्थो में किया है।

मूल में भूल कहाँ—इसमें कहाँ मूल में भूल है ? जो उपादान है वह उपादान ही है, जो निमित्त है वह निमित्त ही है। कुम्हार

घट का कर्त्ता है यह कथन व्यवहार हो सकता है, कारण, कुम्हार वस्तुतः अपनी हलन-चलन क्रिया तथा अपने घट बनाने के उपयोग का ही कर्त्ता है, उसके निमित्त से मिट्टी के परमाणुओं में वह आकार उत्पन्न हो जाता है। मिट्टी का घड़ा बनना ही था और कुम्हार के हाथ को वैसा होना ही था और हमें उसकी व्याख्या ऐसी करनी ही थी, आपको ऐसा प्रश्न करना ही था और हमें यह उत्तर देना ही था, ये सब बातें न अनुभवसिद्ध कार्य कारणभाव के अनुकूल ही हैं और न तर्क-सिद्ध ही।

परम स्वपुरुषार्थी कुन्दकुन्दका अध्यात्म—आ० कुन्दकुन्द ने अपने अध्यात्म में यह बताया है कि यद्यपि कार्य निमित्त और उपादान दोनों से होता है पर निमित्त को यह अहंकार नहीं करना चाहिए कि "मैंने ऐसा किया।" यदि उपादान की योग्यता न होती तो निमित्त कुछ नहीं कर सकता था। पर केवल उपादान की योग्यता भी निमित्त के बिना अविकसित रह जाती है। प्रति समय विकसित होने को सैंकड़ों योग्यताएँ हैं। जिसका अनुकूल निमित्त जुट जाता है उसका विकास हो जाता है। यही पुरुषार्थ है। **श्री कुन्दकुन्द उस निमित्तपने के अहंकार को निकालने के लिए पर-अकर्तृत्व की भावना पर जोर देते हैं। पर यह नियतिवाद का भूत स्वकर्तृत्व को भी समाप्त कररहा है।** श्री कुन्दकुन्द यह तो कहते ही हैं कि जीव अपने गुण पर्यायो का कर्ता है। पर इस नियतिवाद में जब सब सुनियत है तब रंचमात्र भी स्वकर्तृत्व को अवकाश नहीं है। श्री कुन्दकुन्द जहाँ चारित्र दर्शन शील आदि पुरुषार्थों पर भार देकर यह कहते हैं कि इनके द्वारा अपनी आत्मा में बद्ध प्राचीन कर्मों की निर्जरा करके शीघ्र मुक्त हो सकते हैं। वहाँ यह

नियतिवाद कहता है कि—"शीघ्रता की बात न करो, सब नियत है, होना होगा, हो जायेगा।" श्री कुन्दकुन्द की दृष्टि तो यह है कि हम परकर्तृत्व का आरोप करके ही राग द्वेष मोह की सृष्टि करते हैं। यदि हम यह समझ लें कि हम यदि किसी के परिणमन में निमित्त हुए भी हैं तो इतने मात्र से उसके स्वामी नही हो सकते, स्वामी तो उपादान ही होगा जिसका कि विकास हुआ है तो सारे झगडे ही समाप्त हो जाँय। पर इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं है जो स्वपुरुषार्थ या स्वकर्तृत्व की भी स्वतन्त्रता नही है।

अध्यात्म की अकर्तृत्व भावना का उपयोग—तब अध्यात्म-शास्त्र की अकर्तृत्व भावना का क्या अर्थ है? अध्यात्म में समस्त वर्णन उपादान योग्यता के आधार से किया गया है। निमित्त मिलाने पर भी यदि उपादान मे योग्यता विकसित नहीं होती, तो कार्य नही हो सकेगा। एक ही निमित्त भूत अध्यापक से एक छात्र प्रथम श्रेणी का विकास करता है जब कि दूसरा द्वितीय श्रेणी का और तीसरा अज्ञानी का अज्ञानी बना रहता है। अत. अन्तत: कार्य अन्तिमक्षणवर्ती उपादान योग्यता से ही होता है। हाँ, निमित्त उस योग्यता को विकासोन्मुख बनाते है। ऐसी दशा मे अध्यात्म शास्त्र का कहना है कि निमित्त को यह अहकार नही होना चाहिए कि हमने उसे ऐसा बना दिया। निमित्त कारण को सोचना चाहिए कि–इसकी उपादान योग्यता न होती तो मै क्या कर सकता था। अत: अपने में कर्तृत्वजन्य अहकार की निवृत्ति के लिए उपादान में कर्तृत्व की भावना को दृढमूल करना चाहिए, ताकि परपदार्थ के कर्तृत्व का अहकार हमारे चित्त मे आकर रागद्वेष को सृष्टि न करे। बड़े से बड़ा कार्य करके भी मनुष्य को यही सोचना चाहिए कि 'मैने क्या

किया ? यह तो उसकी उपादान योग्यता का ही विकास है, मैं तो एक साधारण निमित्त हूं।' क्रिया हि द्रव्य विनयति नाद्रव्यम्' अर्थात्–क्रिया योग्य में परिणमन कराती है अयोग्य में नहीं। इस तरह अध्यात्म की अकर्तृत्व भावना हमें वीतरागता की ओर ले जाने के लिए है, न कि उसका उपयोग नियतिवाद के पुरुषार्थ-विहीन कुमार्ग पर ले जाने को किया जाय।

'जं जस्स जम्मि' आदि भावनाएँ हैं—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे सम्यग्दृष्टि के धर्म भावना के चिन्तन में ये दो गाथाएं लिखी है—

"ज जस्स जम्मि देसे जेरण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिरणेण णियद जम्मं वा अहव मरण वा ॥३२१॥
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को चालेदु सक्को इंदो वा अह जिणिदो वा ॥३२२॥

अर्थात् जिसका जिस समय जहाँ जैसे जन्म या मरण होना है उसे इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी टाल नहीं सकता, वह होगा ही। प० दौलतराम जी ने भी छहढाला में यही लिखा है—

"सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दलें ते।
मरिणमन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावे कोई॥"
(ढाल न० ५ छद ४)

इस तरह मृत्यु भय से साधक को निर्भय होकर पुरुषार्थी बनने के लिए नियतत्व की भावना का उपदेश है, न कि पुरुषार्थ से विमुख होकर नियति-चक्र के निष्क्रिय कुमार्ग पर पहुँचने के लिए।

उक्त गाथाओ का भावनीयार्थ यही है कि जो जब होना है होगा उसमें कोई किसी का शरण नहीं है, आत्म-निर्भर रहकर जो आवे उसे सहना चाहिए। मृत्यु को कोई नहीं टाल सका।

इस तरह चित्त समाधान के लिए भाई जाने वाली भावनाओं से वस्तु व्यवस्था नहीं हो सकती। अनित्य भावना में ही कहते हैं कि 'जगत स्वप्नवत् है,' पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि शून्यवादियों की तरह जगत् पदार्थों की सत्ता से शून्य है। बल्कि उसका यही तात्पर्य है कि स्वप्न की तरह वह आत्महित के लिए वास्तविक कार्यकारी नही है। यहाँ सम्यग्दृष्टि की चिन्तन-भावना में स्वावलम्बन का उपदेश है, उससे पदार्थ-व्यवस्था नहीं की जा सकती है।

निवेदन—मेरा यही निवेदन है कि, हम सब समन्तभद्रादि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उभयमुखी तत्त्व व्यवस्था को समझे। कुन्दकुन्द के अध्यात्म से अहंकार और परकर्तृत्व भाव को नष्ट करे, कार्तिकेय की भावना से निर्भयता प्राप्त करे और अनेकान्त दृष्टि और अहिसा के पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र ही आत्मोन्नति के असीम पुरुषार्थ मे जुटे। भविष्य को हम बनायेगे, वह हमारे हाथ में है। कर्मों के उत्कर्षण अपकर्षण उदीरणा सक्रमण उद्वेलन आदि सभी हम अपने भावो के अनुसार कर सकते हैं और इसी परम स्वपुरुषार्थ की घोषणा हमें इस छन्द में सुनाई देती है—

> कोटि जन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
> ज्ञानी के क्षण में त्रिगुप्तितें सहज ठरे ते॥"
>
> (ढाल ४ छन्द ५)

यह त्रिगुप्ति स्वपुरुषार्थ की सूचना है। इसमें स्वोदय का स्थिर आश्वासन है। नियतिवाद एक अदार्शनिक सिद्धान्तों से समुत्पन्न काल्पनिक भूत है। इसकी दाढी पकड़ कर हिला दीजिये और तत्त्वव्यवस्था के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार से इस श्रोत्रविष से नई पीढ़ी को बचाइये। यह बड़ा सीधा

उपाय है। न इसमें कुछ करना है न विचारना है एक ही बात याद कर लो "जो होना होगा सो होगा ही" भाई इस बात का भी उपयोग जब तुम्हारा पुरुषार्थ थक जाय, तो साँस लेने के लिए कर लो, कुछ हर्ज नहीं, पर यह धर्म नहीं है। धर्म है— स्वपुरुषार्थ, स्वसंशोधन और स्वदृष्टि।

महावीर के समय में मक्खलि गोशाल इस नियतिवाद का प्रचारक था। आज सोनगढ़ से नियतिवाद की आवाज फिर से उठी है और वह भी कुन्दकुन्द के नाम पर। भावनीय पदार्थ जुदा हैं उनसे तत्त्वव्यवस्था नहीं होती, यह मैं पहले लिख चुका हूँ। यों ही भारतवर्ष ने नियतिवाद और ईश्वरवाद के कारण तथा कर्मवाद के स्वरूप को ठीक नही समझने के कारण अपनी यह नितान्त परतन्त्र स्थिति उत्पन्न कर ली थी। किसी तरह अब नव-स्वातन्त्र्योदय हुआ है। इस युग में वस्तुतत्त्व का वह निरूपण हो जिससे सुन्दर समाज व्यवस्था-घटक व्यक्ति का निर्माण हो। धर्म और अध्यात्म के नाम पर और कुन्दकुन्दाचार्य के सुनाम पर आलस्य-पोषक पुण्यपापलोपक नियतिवाद का प्रचार न हो। हम सम्यक् तत्त्वव्यवस्था को समझे और समन्तभद्रादि आचार्यों के द्वारा परिशीलित उभयमुखी तत्त्वव्यवस्था का मनन करे।

———

दि० जैन साहित्य में विकार

दिगम्बर जैन साहित्य मे विकास नामक एक अत्यन्त गपयोगी

पुस्तक पूज्य श्री १०८ विद्यानन्द जी मुनि महाराज ने लिखी है। उसमें से कुछ पठनीय सामग्री यहाँ दी जा रही है :—

कानजी का स्मरण

सोनगढ़ मे चम्पा बहिन बहुत ज्ञानवती विदुषी समझी जाती है। उसने अपने पिता जी को अन्तिम समय (मृत्यु के समय) एक पत्र लिखा था। वह पत्र 'आत्म-धर्म' पत्र के १२ वे वर्ष के ५ वे अंक मे निम्नलिखित प्रकाशित हुआ है—

"परमपूज्य महाराज श्री कान जी परम पुरुष हैं उनका बहुमान पूर्वक स्मरण करना चाहिए।"

"उपरोक्त भावना बहिन श्री (चम्पा बहिन) ने अपने पूज्य पिता जी को अन्तिम समय मे भाने के लिए लिख दी थी। जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होने से यहाँ दी है।"

यहाँ विचारणीय यह है कि सम्यग्दृष्टि के लिए वन्दनीय तथा स्मरण करने योग्य अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु है जिनको णमोकार मन्त्र मे नमस्कार किया गया है।

श्री कान जी स्वामी उक्त पाँच परमेष्ठियो मे से कोई भी नही है वे एक साधारण अव्रती है। ऐसी दशा में मृत्यु समय उनका स्मरण करने की प्रेरणा करना कहाँ तक उचित है ?

उपदेश देना जड़ की क्रिया है ?

मोक्षमार्ग की किरण—पुस्तक मे १७८ वे पृष्ठ पर कान जी लिखते हैं—

"दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश जड़ की

किया है, आत्मा उसे नहीं कर सकता।"

शब्द पुद्गल वर्गणा रूप होते हैं, अतः वे जड़ हैं, यह बात ठीक है, परन्तु इसके साथ ही ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि उपदेश रूप शब्द केवल जड़-क्रिया रूप नहीं होते, जगत् का कोई भी जड़ पदार्थ (शब्द वर्गणा) अपने आप शब्द रूप परिणत नही हुआ करता, यदि हो तो उसे कान जी स्वामी बतलावे। ज्ञानी आत्मा की प्रेरणा से शब्द वर्गणाएँ शब्द रूप परिणत होती हैं, श्री पूज्यपाद आचार्य ने 'सर्वार्थसिद्धि' के पाँचवे अध्याय में ऐसा ही लिखा है। सुनने वाले आत्मा को वे शब्द हेय उपादेय, कर्तव्य अकर्तव्य, सुपथ कुपथ का ज्ञान उत्पन्न कराते हैं। इस तरह उपदेशी शब्दो का प्रेरक निमित्त कारण ज्ञानी आत्मा है और उन शब्दों का फल श्रोता का ज्ञान, विवेक जागृत रूप होता है।

इसी के अनुसार तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि होती है और असंख्य जीव समवशरण में जाकर उसे सुनते हैं। जिससे उनका आध्यात्मिक हित होता है। अर्हन्त भगवान के पद-चिह्नों पर चल कर मुनि भी वैसा उपदेश देते है। जिससे उपदेश सुनने वाले भव्य जीव मिथ्यात्व, कुज्ञान और दुराचार छोड़ कर स्व-पर-कल्याण करते हैं।

हिंसा से पुण्य-बन्ध

श्री कान जी स्वामी कहते हैं—

"हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प-अल्प पुण्यबन्ध होता है।"

—मोक्षमार्ग की किरण अ० ३ पृष्ठ १२२

तत्त्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के

छठे अध्याय का तीसरा सूत्र लिखा है—"**शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य**।" ६-३।

अर्थ—जीव रक्षा करना, हित मित सत्य प्रिय वचन बोलना आदि शुभ मन वचन काय की प्रवृत्ति (शुभ योग) पुण्य-आस्रव का कारण है और हिंसा करना, असत्य बोलना, कामक्रीडा आदि अशुभ योग पाप-आस्रव (असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों के आस्रव) का कारण है। पुण्य-आस्रव और पाप आस्रव की इस परिभाषा का सभी दि० जैन ग्रन्थकारों ने समर्थन किया है।

तदनुसार कसाई बकरा गाय आदि जीवों की छुरी आदि से हिंसा करते समय अपने मन वचन काय योग से पाप कर्मों (असाता वेदनीय, नरक गति आदि) का आस्रव तथा बन्ध करता है।

परन्तु कान जी पुण्य पाप आस्रव की उस आर्ष व्याख्या पर पानी फेरते हुए जीव-हिंसा करते समय भी कसाई के पुण्य-बन्ध का कपोलकल्पित विधान करके सर्वसाधारण को पथभ्रष्ट करना चाहते हैं।

दिव्यध्वनि से कुछ लाभ नहीं ?

मोक्षमार्ग की किरण पुस्तक के २१२ वे पृष्ठ पर कान जी ने लिखा है—"**तीर्थङ्कर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता।**"

जगत का मोह अज्ञान अन्धकार तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि (वाणी) से दूर होकर जगत में धर्म का तथा सत् ज्ञान का प्रचार होता है, भव्य जीवो का मिथ्यात्व, भ्रम, सशय आदि दूर होता है। इसी कारण असख्य सुर नर पशु रुचि के साथ समवशरण मे आकर तीर्थङ्कर की वाणी को सुनकर आत्महित करते है, समयसार आदि ग्रन्थ भगवान महावीर की वाणी के अनुसार

ही लिखे गये हैं । श्री कुन्दकुन्द आचार्य अष्ट पाहुड़ में लिखते हैं—

जिणवयणमोसहमिण विसयसुहविरेयणं अमियभूयं।
जरमरणवाहि-हरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥

अर्थ—तीर्थङ्कर जिनेन्द्र की वाणी सासारिक विषयसुख रूपी रोग का विरेचन कराने के लिए (मल त्याग कराने के लिए) अमृतरूप औषधि है, जरामरण व्याधि को दूर करने वाली है तथा समस्त दु खों का क्षय करने वाली है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य तो इस तरह तीर्थङ्कर की वाणी को जगत का कल्याण करने वाली कहते हैं और कुन्दकुन्द आचार्य में अपनी गहरी श्रद्धा भक्ति प्रगट करने वाले कानजी कुन्दकुन्द आचार्य के उक्त कथन के विरुद्ध कहते है कि "**तीर्थङ्कर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता**"।

तीर्थ-वन्दना व्यर्थ

कानजी स्वामी **मोक्षमार्ग की किरण** पुस्तक के १७० वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि—"**कोई कहे कि सम्मेदशिखर और गिरनार का वातावरण ऐसा है कि धर्म की रुचि होती है, ऐसा मानने वाला मिथ्या-दृष्टि है।**"

सम्मेदशिखर गिरनार आदि स्थानों से तीर्थंकरो तथा असंख्य अन्य मुनियों ने मुक्ति प्राप्त की है, उन स्थानों पर जाकर प्रत्येक स्त्री पुरुष उन मुक्त पुरुषों का हृदय से स्मरण करते हैं, इस कारण वहाँ के शान्त वातावरण से वीतरागता का उदय भव्य जीवों को हुआ करता है, अनेक व्यक्ति तो वहाँ जाकर संसार से विरक्त हो कर मुनि भी बन जाते हैं। इसी कारण उन मुक्ति स्थानों को 'तीर्थ' (संसार सागर से पार करने वाला) कहते

हैं। परन्तु कानजी उस धार्मिक श्रद्धा को मिथ्यात्व कह कर भोली जनता में भ्रम फैलाते है।

परमात्मा प्रकाश मे लिखा है—"**व्यवहारनयेन निर्वाणस्थान चैत्यालयादिके तीर्थभूतगुण-स्मरणार्थं तीर्थं भवति।**"

यानी—व्यवहारनय से निर्वाणभूमि और चैत्यालय (जिन मंदिर) आदि मे तीर्थस्वरूप तीर्थंकरादि के गुण स्मरण करने के लिये तीर्थ (ससार सागर से पार करने वाला स्थान) होता है।

किन्तु कानजी उलटी बात लिखकर जनता को तीर्थ-वन्दना से दूर रखना चाहदे है। इसके साथ ही स्वय इन सम्मेद-शिखर, गिरनार आदि तीर्थों की वन्दना भी करते हैं।

शायद—कान जी अपने आपको सिद्ध समान मान कर तीर्थ वन्दना को अहितकारी या व्यर्थ समझते होगे। अपने आपको सिद्ध समझने वालों के लिये श्री प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाश में लिखा है कि—

अपनी आत्मा को सिद्ध समान अनुभवं है, सो आप प्रत्यक्ष ससारी है। भ्रम करि आपको सिद्ध मानं, सोई मिथ्या दृष्टि है।"

निश्चय एकान्तवादी कानजी आदि श्री पं० टोडरमल जी के उस वाक्य पर गम्भीरता से विचार करे।

०—०

तब और अब

'अर्थ' से कभी कभी बड़ा 'अनर्थ' हो जाता है। श्रीमान् पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने पहले धवला, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थो की हिन्दी भाषा की है उसमे आपने आर्षसिद्धान्त अनुसार व्यवहार नय की सत्यता, निमित्त कारण की सहायता से कार्य होना, निश्चय नय के एकान्त का निराकरण आदि का समर्थन

किया है किन्तु जब से आप की कानजी स्वामी के सम्पर्क में आये हैं तब से उस आर्षसिद्धान्त के विरुद्ध सोनगढ़ का समर्थन करने लगे हैं।

यहाँ दि० जैन साहित्य में विकार पुस्तक में से पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री के कुछ शास्त्र सम्मत पुराने विचार पढ़िये :—

सर्वज्ञता के अतीत इतिहास कोएक झलक

[ले०—प० फूलचन्द्र जैन सिद्धान्त शास्त्री]

"वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वज्ञत्व के समर्थन वाली दृष्टि बदल कर आत्मतत्व के विश्लेषण में लीन हो जाती है। तभी तो वे यहाँ लिखते हैं, "यद्यपि +व्यवहार नय को अपेक्षा केवल सब को जानते हैं, किन्तु निश्चय नय की अपेक्षा वे अपने को ही जानते और देखते हैं।" आत्मस्वरूप का कितना सुन्दर विश्लेषण है। ज्ञायक भाव आत्मा का स्वभाव है, किन्तु वह आत्मनिष्ठ है। अत फलित हुआ कि निश्चय नय से आत्मा स्व को ही जानता और देखता है तथा व्यवहार द्विविधामय है। उसका अनेक के बिना काम नहीं चलता। अतः फलित हुआ कि व्यवहार नय से आत्मा सबको जानता और देखता है। बात यह है कि कार्य कारण व्यवहार, जिसकी लीक पर सारा संसार चक्र प्रतिक्षण घूम रहा है, केवल स्वरूप के विश्लेषण करने तक सीमित नहीं है, क्योंकि वह द्विविधामय है। हम देखते हैं कि जब दो या दो से अधिक परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बनता है और फिर उनसे मिट्टी आदि विविध तत्वों की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर उन्हें ज्ञान भेदरूप से ग्रहण करता है। तब इन को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? सत्य और मिथ्या ये शब्द सापेक्ष

+जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५८॥ नि० सा०

है। ऋषियों का प्रयोजन मूल वस्तु का ज्ञान कराना होता है। अतः उन्होंने व्यवहार को मिथ्या आदि जो कुछ जी मे आया सो कहा। वेदान्तियों ने तो इस द्विविधामय जगत के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहा, पर क्या इससे व्यवहार नाम शेष हुआ ? यदि निश्चय सत्याधिष्ठित है तो वह अपनी अपेक्षा से ही। यदि व्यवहार की अपेक्षा से भी उसे वैसा मान लिया जाय तो बन्ध मोक्ष की चर्चा करना ही छोड़ देना चाहिए। कविवर प० बनारसीदास जी ने ऐसा किया था, पर अन्त में उन्हे एकान्त निश्चय का त्याग करके व्यवहार की शरण में आना पड़ा। आचार्य कुन्दकुन्द ने जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है वह व्यवहार की अपेक्षा नही, किन्तु निश्चय की अपेक्षा से कहा है। व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है, जितना कि निश्चय। जिस प्रकार हम विविध पदार्थों को जानते हैं, किन्तु हमारा वह सब जानना झूठा नही है फिर भी वह ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही रहता है। उसी प्रकार केवली भगवान् सब पदार्थों को जानते और देखते हैं, किन्तु उनका वह जानना असत्य नही है। फिर भी वह उनका ज्ञायकभाव आत्मनिष्ठ ही है। उपर्युक्त व्यवहार और निश्चय की कथनी का यही मथितार्थ है।

—वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ३५४-३५५

सम्यक्त्व के साधन

साधन दो प्रकार है—अभ्यन्तर और बाह्य। दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अभ्यन्तर साधन है। बाह्य साधन निम्न प्रकार हैं—नारकियो के चौथे नरक से पहले तक अर्थात् तीसरे नरक तक किन्ही के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्म-श्रवण और किन्ही के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। चौथे से लेकर सातवे तक किन्हीं के जातिस्मरण और किन्हीं के वेदनाभिभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

तिर्यंचो मे किन्ही के जातिस्मरण, किन्हीं के धर्मश्रवण और किन्हीं के जिनविम्बदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। मनुष्यों के भी इस प्रकार जानना चाहिए।

देवो में किन्ही के जातिस्मरण, किन्ही के धर्मश्रवण किन्ही के जिनमहिमादर्शन, और किन्ही के देवऋद्धिदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था आनत कल्प से पूर्व तक जानना चाहिए। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देवों के देवऋद्धिदर्शन को छोड़ कर शेष तीन साधन पाये जाते हैं। नौ ग्रैवेयक में निवास करने वाले देवो के सम्यग्दर्शन का साधन किन्ही के जातिस्मरण और किन्हीं के धर्मश्रवण है। अनुदिश और अनुत्तरविमानों मे रहने वाले देवों के यह कल्पना नहीं है, क्योंकि वहां सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं।

(सर्वार्थसिद्धि—पृष्ठ २६-२७)

परिणमन

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ।।५-२२।।

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं ।।२२।।

अर्थ—यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय के उत्पन्न करने में स्वय प्रवृत्त होते हैं तो भी वह बाह्य सहकारी कारण के बिना नही हो सकती इसलिए उसे प्रवर्ताने वाला काल है, ऐसा मानकर वर्तना काल का उपकार कहा है।

—सर्वार्थसिद्धि, पृष्ठ २६१

नोट—पाठक स्वयं देखें कि कवहारनय तथा निमित्त कारण को शास्त्र कितना आवश्यक मानते हैं। स्वयं पं० फूलचन्द्र जी ने उनका जोरदार समर्थन किया है पर अब श्री कानजी स्वामी के सम्पर्क में आने पर शास्त्री जी अपने शास्त्र सम्मत विचारों का ही खंडन करने पर उतारु हैं।

—प्रकाशक

जो-जो देखी वीतराग ने

(ले०—श्री पं० अजितकुमार शास्त्री जी, सम्पादक—जैनगजट)

संसार अवस्था मे आत्मा और कर्मों का युद्ध चलता रहता है। उस युद्ध में जब आत्मा बलवान् होता है, तब वह अपने पुरुषार्थ से कर्मों को पछाड देता है, उनको बलहीन कर डालता है और अपनी इच्छा के अनुसार अपने हित का कार्य करने मे सफल हो जाता है। तथा जब कर्म प्रबल होते हैं और आत्मा निर्बल होता है तब आत्मा कर्मों की मार खाता रहता है, आत्मा का पुरुषार्थ कर्मो के उस सकट को टालने में सफल नहीं हो पाता।

वृक्ष आदि स्थावर एकेन्द्रिय जीवो की शक्ति बहुत हीन होती है, *अतः अशुभ कर्म के उदय से जब उनके ऊपर सर्दी, गर्मी, छेदन, भेदन* आदि की विपत्ति आती है, तो उस विपत्ति से बचने के लिये व अपने स्थान से कहीं किसी सुरक्षित निरापद स्थान पर भाग भी नही सकते, अपने स्थान पर ही रह कर उनको अपना अशुभ कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। अपने शान्त कषायो से अनजाने मे उन्होने यदि शुभ कर्म उपार्जित किये हों तो वे उस दु.खदायिनी स्थावर पर्याय से छूट कर त्रस पर्याय मे आ जावें तो उनका दुःखभार कुछ हलका हो जावे अन्यथा उनको अनन्त दुःखकाल उसी दु.खदायिनी स्थावर पर्याय मे विविध प्रकार के दुःख सहते हुए बिताना पड़ता है। इस तरह उनकी चेतना (जानना देखना—साकार निराकार उपयोग) कर्मो के फल अनुसार हुआ करती है, अतः स्थावर जीवो की चेतना को कर्म-फल-चेतना कहते हैं।

इन्द्रिय बल तथा शरीर बल की अपेक्षा

त्रस पर्याय मे जीव उत्तरोत्तर बलवान होता जाता है। अतः उन जीवों पर यदि कभी असाता वेदनीय आदि अशुभ कर्मों के उदय से

कोई संकट आता है तो वे उस संकट से बचने के लिये इधर-उधर भाग दौड़ कर, किसी बिल आदि सुरक्षित स्थान में छिप कर अपना बचाव (रक्षा) भी कर लेते हैं और उस तरह अपने पुरुषार्थ से कभी-कभी उनकी जीवन-रक्षा हो भी जाती है। इसी के लिये वे अपने लिये बिल, छत्ते, घोसले, भिटे आदि आश्रय स्थान बना लेते हैं। लट, चींटी, मक्खी, चिड़िया, चूहा, सर्प, गीदड, भेड़िया आदि दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंच इन्द्रिय तिर्यंच जीवों मे अपनी-अपनी सुरक्षा की ऐसी प्रवृत्ति हम सदा देखते रहते हैं।

मनुष्य भी उनमे से एक विशेष ज्ञानवान प्राणी है, वह तो अपनी सुरक्षा के लिये हजारों प्रकार के प्रयत्न किया करता है। उसमे बुद्धिबल अन्य पशु-पक्षी आदि पशुओ की अपेक्षा अधिक होने के कारण अधिक बल विद्यमान है, अतः वह परमाणु बम की मार से भी बचने के लिये पृथ्वी के भीतर, जल के भीतर या आकाश मे विविध प्रकार के उपाय करता है। समुद्र के भीतर मकान बना कर रहने की विधि आजकल अनेक वैज्ञानिक विद्वान् सोच रहे हैं। इस तरह अपनी-अपनी समझ-बूझ और शक्ति के अनुसार त्रस जीवो मे अपना अशुभ कर्म फल टालने का 'कर्म' (क्रिया—प्रयत्न) कर डालने का ज्ञान-दर्शन उपयोग रहा करता है, अत: त्रस जीवों के कर्म-चेतना शास्त्रकारों ने बतलाई है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने कर्म शत्रुओ पर विजय पाने के लिये बाहरी अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग नही करता, वह अपनी अन्तर्मुखी आत्म-शक्ति को अपनी ज्ञान-ज्योति से प्रदीप्त करता है। उसी सत् ज्ञान-ज्योतिसे वह कर्म-शत्रु को क्षीण करता हुआ, युद्ध क्षेत्र मे गुणस्थान अनुसार आगे बढ़ता हुआ, अपनी उस अनन्त शक्ति का विकास कर लेता है जिसके सामने महान् बलवान् घाती कर्म-शत्रु (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) उस युद्ध भूमि से पीठ दिखा कर भाग जाते हैं। आत्मा उनका अस्तित्व मिटा कर अपना अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान,

अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त बल) प्राप्त कर लेता है। कुछ समय पश्चात् उसके निर्बल कर्म-शत्रु (चार अघाती कर्म) भी स्वयं दुम दबा कर भाग जाते हैं। इस तरह अपनी सत्ज्ञान शक्ति से कर्मों के साथ युद्ध करने वाले ज्ञानी आत्मा के 'ज्ञान-चेतना' मानी गई है।

कर्मों में परिवर्तन

अज्ञान चेतना (कर्म-चेतना) तथा ज्ञान-चेतना (चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक) वालो को अनेक अवसर ऐसे आया करते हैं कि अपने अच्छे या बुरे भावो से बाँधे हुये शुभ या अशुभ कर्म अपने उदय काल में जो फल दे सकते हैं उसमे आत्मा अपने विविध प्रकार के प्रयत्नो से उलट फेर भी कर कर डालता है। तदनुसार कभी कोई कर्म अपने निश्चित समय से पहले भी उदय मे आ जाता है जिसे कि शास्त्रीय भाषा मे 'उदीरणा' कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान् ने इसी उदीरणा के प्रकरण मे 'अकालमरण' (आयु की अवधि समाप्त होने से पहले किसी दुर्घटना से मर जाना) भी बतलाया है; जिसका उल्लेख कुन्दकुन्द, उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलंक देव, विद्यानन्द आदि समस्त ग्रन्थकार आचार्यो ने अपने-अपने ग्रन्थो मे यथा स्थान किया है।

कभी आत्मा अपने पहले बाँधे हुए शुभ अशुभ कर्मो की प्रकृति अपने शुभ-अशुभ पुरुषार्थ से बदल भी डालता है। साता वेदनीय कर्म को असाता वेदनीय, असाता वेदनीय को साता वेदनीय कर्म के रूप मे कर डालता है। कर्मो की इस दशा बदलने की प्रक्रिया को शास्त्रकारो ने 'संक्रमण' सज्ञा दी है। कभी उन पूर्वबद्ध कर्मो की स्थिति और अनुभाग में अपने परिणामो के प्रयत्न से वृद्धि कर देता है, जिसको 'उत्कर्षण' कहा जाता है। कभी अपने अच्छे परिणामो से बधे हुये कर्मो की निश्चित स्थिति और अनुभाग मे कमी कर डालता है, उस क्रिया को कर्म-ग्रन्थो मे 'अपकर्षण' बताया है, जैसे कि श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनि के गले मे तीव्र क्रोध कषाय से मरा हुआ सर्प डाल कर सातवें नरक का ३३ सागर का आयु कर्म बाँधा था, फिर भगवानका भक्त बन

कर जब धर्मात्मा बन गया, तब उसकी आयु पहले नरक की केवल ८४ हजार वर्ष की रह गई। यानी—समुद्र मे एक बूंद के बराबर।

अपरिवर्तनीय कर्म-दशा

परन्तु कोई कर्म ऐसा भी बन्ध जाता है जिसमें उदीरणा और संक्रमण नामक परिवर्तन नहीं हो सकते। उत्कर्षण (स्थिति अनुभाग का बढ़ना) और अपकर्षण (स्थिति अनुभाग का घटना) हो सकता है। ऐसे कर्मों को 'निद्धत' कहते हैं। कोई ऐसे बलवान कर्म भी बंध जाते हैं जिनमे उदीरणा आदि किसी भी तरह का परिवर्तन नही हो सकता, घटाने, बढ़ाने, बदलने आदि का कैसा भी प्रयत्न क्यो न किया जावे किन्तु उनकी दशा मे रचमात्र भी अन्तर नही पड़ता, जैसा बांधा जाता है वैसा ही उतना ही, उतने ही समय तक जीव को उस कर्म का फल अवश्य भोगना पडता है। उस कर्म को 'निकाचित' कहते हैं।

बाहरी कारण

यह तो रही कर्मों के फलदेने मे अन्तरंग कारणोकी बात किन्तु इसके सिवाय कर्मो के फल मिलने मे बाहरी कारणों की परिस्थिति का भी अनुकूल प्रतिकूल प्रभाव पडता है जिससे कर्म अपना निश्चित फल नहीं दे पाते। जैसे कि नरको मे नारकी जीवो के जब कभी साता वेदनीय कर्म का उदय आता है तब वहाँ उस कर्म की स्थिति अनुभाग के अनुसार उतनी देर तक उतना सुख मिलना चाहिये परन्तु वहां नरको मे सुख देने योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव की परिस्थिति (बाहरी वातावरण) न होने से सुख नही मिलता, इस कारण वह साता वेदनीय कर्म भी असाता वेदनीय के उदय की तरह दुःखदायक बनकर दुख देता हुआ चला जाता है।

स्वर्गों मे रहने वाले इन्द्र अहमिन्द्र आदि देवो के पूर्वबद्ध असाता कर्म का उदय जब कभी आता है तो वहाँ कोई दुखदायक सामग्री न होने से वह असाता वेदनीय दुख नही दे पाता। केवली भगवान के भी असाता

वेदनीय कर्म का उदय दुखदायक नहीं बनता। इत्यादि।

इस तरह कर्मों का फल बाहरी निमित्त कारणों की परिस्थिति से भी बदल जाता है।

सारांश

तात्पर्य यह है कि आत्मा के विकारी भावों के निमित्त से कार्माण वर्गणायें ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूप परिणमन करती हैं और इन द्रव्यकर्मों के निमित्त से संसारी जीव को अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व भाव तथा नरक, मनुष्य, स्वर्ग, पशु आदि गतिया प्राप्त होती है। परन्तु बांधा हुआ कर्म भी अन्तरङ्ग (आत्मा के परिणाम) और बहिरंग (द्रव्य क्षेत्र काल आदि) निमित्त कारणों से बदल भी जाया करता है, निश्चित एक-सा ही नही बना रहता। किन्तु निकाचित रूप कर्म मे कोई परिवर्तन नही होता। यह कर्म सिद्धान्त का सार है।

सर्वज्ञ का ज्ञान

ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाने से सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवहारनय से लोक, अलोक तथा भूत भविष्यत् वर्तमान काल की होने वाली समस्त द्रव्यो की समस्त पर्यायो को ठीक उसी रूप मे यथार्थ जानता है। यानी-त्रिलोक-त्रिकालवर्ती ज्ञेयपदार्थों का जैसा कुछ परिणमन होता है, सर्वज्ञ के ज्ञान का परिणमन भी उसी प्रकार होता हैं।

यदि किसी जीव की आयु उदीरणा द्वारा असमय मे समाप्त हो जाती है यानी-अकाल मे उसका मरण हो जाता है तो सर्वज्ञ का ज्ञान भी उस समय के अकालमरण को उसी तरह अकाल-मरण के रूप में जानता है। यदि किसी निकाचित आयु कर्म वाले जीव का आयु कर्म दुर्घटनाओं के होते हुए भी बीच मे समाप्त नही होता, पूरी स्थिति तक फल देकर ही समाप्त होता है, जिससे कि उस देव, नारकी, भोगभूमिज तीर्थंकर तथा अन्य किसी निकाचित आयु कर्म वाले जीव का मरण असमय मे न होकर नियत समय पर ही होता है तो सर्वज्ञ का ज्ञान भी उसके मरण को यथाकाल-मरण के रूप मे जानता है।

किसी जीव के कर्मों में निमित्त कारणवश उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि किसी रूप से उलट फेर, कमी, बढ़ती होती है तो सर्वज्ञ का ज्ञान भी उसको उसी तरह उलटती पलटती अनियत पर्याय के रूप मे जानता है।

सारांश यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान उस विशाल स्वच्छ दर्पण के समान है जिसमे त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ अपनी पर्यायो के अनुरूप यथावत् (जैसे के तैसे) झलकते रहते हैं। इसके सिवाय सर्वज्ञ का कोई भी किसी भी तरह का दखल पदार्थों की पर्यायों के नियत अनियत आदि करने में रचमात्र भी नहीं है।

सर्वज्ञ तो केवल जानता है और वह भी पदार्थों के परिणमनों के अनुसार। जिसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ के ज्ञान का स्वाभाविक ज्ञाता रूप मे परिणमन समस्त ज्ञेय पदार्थों के अनुसार ही हुआ करता है। और ज्ञेय पदार्थों का परिणमन अपने-अपने उपादान तथा निमित्त कारणों के अनुसार होता हैं। यानी-ज्ञेय पदार्थ सर्वज्ञ के ज्ञान-परिणमन मे निमित्त कारण हैं और सर्वज्ञ का ज्ञान-ज्ञापक (बताने वाला) है, वह किसी भी पदार्थ के परिणमन का निमित्त कारण नहीं है, न वह पर्यायों का नियामक है।

धैर्य, शान्ति लाने के लिये

कोई जीव अपने सकट को टालने के लिए विविध प्रकार के यत्न करके भी जब थक जाता हैं, अपने निकाचित अशुभ कर्म की दुखदायिनी परिस्थिति को बदलने मे असमर्थ हो जाता है, तब उसको धीरज देकर शान्त करने के अभिप्राय से श्री अध्यात्म कविवर प० भैया भगवतीदास जी ने निम्नलिखित पद बनाया है—

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे,
अन-होनी होसी नहिं क्यो ही, काहे होत अधीरा रे ।।१।।
समयो एक बढे नहिं घटसी, जो सुख दुख की पीरा रे,
तू क्यों सोच करे मन मूरख, होय बज्र ज्यो हीरा रे ।।२।।

लगै न तीर कमान वान कहूँ, मार सकै नही मीरा रे,
तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे ।।३।।
निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को, जो टारै भव पीरा रे ।
'भैया' चेत धरम निज अपनो, जो तारै भव नीरा रे ।।४।।

यह पद श्री भैया भगवतीदास जी ने किसी तरह न पलट सकने वाले निकाचित कर्म की मुख्यता से लिखा है । वैसे तो यह बात प्रथमानुयोग के स्वाध्याय करने वाले प्रत्येक भाई को मालूम है कि अन्तकृत केवली (प्राणघातक उपसर्गो को शान्ति के साथ सहन करके केवल ज्ञानी तथा मुक्त होने वाले मुनि) चेतन या अचेतनकृत उपसर्गो के कारण असमय मे (अकालमे) मरण करके मुक्त हुआ करते हैं ।

जैसे कि पाडवो को मुनि अवस्था मे आत्मध्यान करते समय उनके शत्रु ने लोहे के गर्म आभूषण पहना कर जला दिया जिससे असमय मे ३ पाडव (आयु पूरी होने से पहले ही) मुक्त हुए । दण्डक मुनि का शरीर उनके बैरी ने वाणों (तीरो) से बीध डाला जिससे उनका अकालमरण हुआ । इत्यादि अनेक दृष्टान्त हैं । प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासन काल मे ऐसे अकाल मरण कर मुक्त होने वाले १० केवली होते हैं और १० मुनि अनुत्तर (सर्वार्थसिद्धि आदि) विमानो मे उत्पन्न होने वाले मुनि हुआ करते हैं ।

ऐसे अकाल मरण करने वाले जीवो की अपेक्षा से भैया भगवतीदास ने यह पद नही बनाया कि—

"लगै न तीर कमान वान कहूँ, मार सकै नहिं मीरा रे ।"

क्योकि दण्डक मुनि का अकालमरण तो इन तीर कमान ने ही कर डाला था । तथा—निकाचित कर्म की दृष्टि से ही भैया जी ने यह लिखा है कि—

'समयो एक घटै नहिं बढ़सी, जो सुख दुख की पीरा रे।'

क्योकि श्रेणिक ने अपनी नरक की आयु ३३ सागर से घटा कर

८४ हजार वर्ष कर डाली थी। समाधिमरण करने वाले मुनि भी अपनी इच्छा से भोजन पान छोड़ कर शान्ति से असमय (आयु समाप्ति से पहले) मे पडितमरण करते हैं। उन पर भैया भगवतीदास जी का यह पद लागू नही होता।

एवं—भैया भगवतीदास जी ने नियतिवाद को भी इस पद के द्वारा पुष्ट नहीं किया है कि **"जो कुछ होना है वह होगा ही,तुम कुछ मत करो, किसी कार्य के कर्त्ता मत बनो।"** तभी तो वे दुख मेटनेका कुछ उपाय करने के लिये भी कहते हैं कि—

तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनन्त तो तीरा रे।

यानी—तू क्रमबद्धपर्याय या नियतिवाद के चक्कर मे पड कर निकम्मा मत बैठ, तू अपना पुरुषार्थ कर। पुरुषार्थ करेगा, तब ही तुझको तेरा अनन्त सुख मिल सकेगा।

भैया भगवतीदास जी जानते थे कि वीतराग भगवान किसी अपने भक्त का सकट दूर नही किया करते परन्तु निमित्त कारण की मुख्यता से वे स्पष्ट लिखते है कि—

निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभु को, जो टारै भव पीरा रे।

यानी—व्यर्थ बातो को छोड़ कर निश्चित मन से उस वीतराग भगवान का ध्यान कर, जो तेरे संसार के भ्रमण को, ससार के सकट को मेट देगा।

इस तरह भैया भगवतीदास जी के इस पद से क्रमबद्ध पर्याय या नियतिवाद मिथ्यात्व की पुष्टि रचमात्र भी नहीं होती, जैसी कि मुमुक्षु भाइयो ने गलती से समझ रक्खी है। इस पद के द्वारा उन्होने तो वीतराग को दुख मेटने का निमित्त कारण बताकर आत्मचिन्तन तथा वीतराग भगवान का ध्यान आदि उद्योग करने का भाव प्रगट किया है॥

★

सोनगढ़ी प्रचार में चारित्र की अवहेलना

अभी इधर दहेगाम (गुजरात) में वि० स० २०२० वैशाख वदी ६ से ८ तक श्री जिन मदिर की वेदी प्रतिष्ठा श्रीकानजी महाराज के सान्निध्य मे हुई। इस प्रसग पर मुझे भी प्रत्यक्षरूप से श्री कानजी महाराज का प्रवचन सुनने तथा उनका सिद्धान्त जानने का अवसर मिला।

प्रतिष्ठा के उक्त तीन दिनो मे मैने श्री कानजी स्वामी के पाच प्रवचन सुने जिसमें जो बात पहले प्रवचन मे कही गई थी, ठीक वही पाचवे प्रवचन मे सुनने को मिली, एक ही दृष्टान्त और निश्चय एकान्त से एक ही प्रकार के शब्द। उनके प्रवचन मे कोई मौलिकता या मोक्षमार्ग के निरूपण की पद्धति मेरे देखने मे नही आई। श्री कानजी स्वामी ने अनेक ग्रन्थ देखे हैं, ऐसा कहते हैं, उनका अच्छा अभ्यास भी उन्होने किया। तब फिर समझ में नही आता कि क्यों जिनागम की अनेकात शैलीको दूर रख कर अपना स्वतन्त्र कल्पित सिद्धात आलापना उनका काम बन गया है? मान कषाय वश ही यह कार्य हो रहा प्रतीत होता है। श्री कानजी स्वामी 'समयसार' की गाथा १७-१८ पर प्रवचन करते रहे और हर समय उनके कथन में यही आता रहा कि शरीर को कृश करने से धर्म नही होता, बाह्याचार पालने से धर्म नहीं होता, नग्न रहने से धर्म नहीं होता, उपवासादि करने से धर्म नहीं होता, पाप'पुण्य बंधन हैं- मैल चाटने के सदृश हैं, निमित्त से कुछ नही होता, मुनिव्रतधार

अनन्तवार ग्रीवक उपजायो आदि ....। पता नही 'समयसार' की इन गाथा (१७, १८) का यह अर्थ वे कहाँ से निकालते थे। और समझ में नही आया कि इस प्रकार का विपरीत उपदेश देते रहने से जीवों का या स्वयंका क्या कल्याण होने वाला है! 'आत्मा को जान, उसमें लीन होना चारित्र है'—परन्तु श्रावकगण किस प्रकार चारित्र में लीन हो, इसका कोई उल्लेख अपने प्रवचन मे कानजी महाराज नही करते। मात्र शुष्क सीमित एकान्त अध्यात्मवादरूप विषय लेकर घर से दुकान और दुकान से घर के समान बोलते जाते है, जिससे आत्मकल्याण का कोई तात्पर्य सिद्ध नही होता। कुछ आध्यात्मिक ग्रंथों (प्रवचनसार, नियमसार, आत्मानुशासन, अष्टपाहुड़, स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश, पद्मनदिपचविंशति का आदि) से अपनी मान्यता के अनुरूप थोडा-थोड़ा कथन लेकर अपने विषय को पुष्ट करते हैं, जैसे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक'—ग्रंथ का ७ वां अधिकार। परन्तु उसके आगे-पीछे के अन्य कथन की अवहेलना करते है, वैसे ही अन्य ग्रन्थों के बारे में भी करते हैं। यह तो आचार्यों और विद्वानों का भी उपहास ही है। क्या इस प्रकार के एकान्तरूप या विपरीत कथनरूप परिणामो के सद्भाव में सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव सभव है? चारित्र की बात तो दूर।

पंगले पाड़ना (पद चिह्न बनाना)

इसके अतिरिक्त श्री कानजी महोदय अपने भक्तों के घर जाकर कागज या कपडे पर केशर-कंकु चुपड़वाकर पगले पाड़ते हैं—(चरण चिह्न बनाते हैं) जिन्हें भक्त लोग अपने घर में सादर रखते हैं। उनके अनुयायियों का प्रचार है कि ऐसा करने से धन बढ़ता है, सो ठीक ही है, दुनिया को चाहिए ही क्या?

जो पैसा बढा दे, वही सबसे बड़ा 'परमोपकारी सद्गुरुदेव'। देखिए कानजी मत-प्रचार का कैसा साधन है।

पाद-प्रक्षालन

एक दिन शाम को लगभग ५।। बजे जब कानजी महाराज 'कहान-किरण' नामक बगले मे भोजन के लिए पधारे तो वहाँ पहले से ही मखमली गलीचे से सुशोभित मुड्ढा उनके बैठने को रख दिया था, उस पर कानजी महाराज बैठ गये। तब आहार-दाता अनुयायी भक्तो ने उनके पैर एक बर्तन में धोये व पैर-धुला जल मस्तक पर चढ़ाया एवं नमस्कार किया। उनके उठते-बैठते 'परमकृपालु सद्गुरुदेव की जय' तो भक्त लोग बुलवाते ही रहते थे।

भोजन का ठाठ

बंगले में सोनगढ के सत के लिए भोजन के उच्चस्थान पर बढ़िया गलीचा बिछा हुआ था व आगे पटड़े पर मिल की कोरी चद्दर बिछा दी गई थी—पीछे की ओर गद्दी तकिया और मखमली पर्दा उनकी शोभा बढा रहे थे। तभी चादी के बर्तनों में सजा हुआ भोजन (पापड़, पूरी, हलुआ आदि) आया व उन्होंने भोजन किया। खाना पूर्ण होते ही पानी पीने के पूर्व वे बोल उठे कि 'अमुक भाई कहा है ?' इससे प्रतीत होता है कि सामान्य 'मौन' जैसा भी कोई व्यवस्थित नियम वे नही पालते।

कृत्रिम दांत

पश्चात् पानी पीकर उन्होने अपने कृत्रिम दाँत निकाले व शीघ्रता से धोकर फिट कर लिये। मुझे विचार आया कि इन अध्यात्मवादी संत नामधारी महोदय के स्वशरीर का भारी मोह

दिखाई देता है अन्यथा कृत्रिम दांत (जवाड़ा) क्यो लगवाते ? बाद मे गुरु स्तुति पूर्वक अन्ध श्रद्धावान भक्तों ने उन्हें तीन बार नमस्कार किया और 'सद्गुरु देव की जय—घोषो के बीच श्री कानजी महाराज बगले से बाहर निकले व तैयार खड़ी 'कार' में आ बैठे।

'कार' सर्वत्र तैयार

श्री कानजी महोदय आधे फर्लांग भी पैदल नही चलते। राजा-महाराजाओं की भाँति 'कार' द्वार पर हर कही हाजिर रहती है। उनकी स्पेशल गाड़ी का नाम **'मगलवर्द्धिनी'** है। प्रवास में वही उनकी साथी है। ये 'सन्तो' के राजशाही ठाठ, शरीर को कष्ट नही, चारित्र की आराधना-साधना नही, संयम का नाम नही—फिर भी धर्म के नाम पर 'समयसार' की सूखी रट अवश्य है।

कई वर्ष पूर्व मेरे सुनने में आया था कि सोनगढ़ में ही उनके कुछ भक्त उनकी झूठी थाली सम्यक्त्व के नाम पर धोकर पी जाते हैं, सो दैनिक होता है या कभी-कभी इसका पता नही।

इस प्रकार 'ढोल में पोल' है। श्री कानजी महोदय की संयम व चारित्र के प्रति उपेक्षा तथा मान कषाय की तीव्रता ने ही उन्हें निश्चय-एकाती एवं आचार्यों, मुनि, त्यागी, व्रती, विद्वानों की निन्दा-अवहेलना करने वाला बना दिया है। उनके अनुयायी भी वैसे ही तैयार हो रहे हैं। वे अभिमानी इतने हैं कि अपने से अधिक किसी को समझते ही नहीं। ऐसे 'धर्म प्रचार' से तो धर्म-निन्दक ही निर्माण होंगे, कोई भी **निष्पक्ष तटस्थ विचारशील धर्म-बन्धु** सोनगढ़ जाकर इन सब बातों

को प्रत्यक्ष देख सकता है। विशेष रूप से 'समयसार' का ही स्वाध्याय करते हैं—अमुक गाथाओंको लेकर ही प्रवचन करते हैं, उसमें भी जो अपना कहना होता है, वही कहते है, गाथाओं का अर्थ गाथाओं में रह जाता है। 'समयसार'-ग्रन्थ का स्वाध्याय सोनगढ़ में १४ बार हो चुका है, वह इसी लिए कि कानजी महोदय को अन्य ग्रन्थ का अवलम्बन लेना अपने प्रवचन में कठिन होता है। 'समयसार' पढ़कर भी उसका रहस्य जैसे एक बार प० बनारसीदास जी भी नहीं समझ पाये थे उससे भी अधिक खराब दशा आज कानजी महोदय व उनके भक्तों की है। वास्तव में गजब का आडम्बर और प्रचार है। इसीलिए कुछ भाई 'दूर के ढोल सुहावने' की कहावत अनुसार उधर आकर्षित होते हैं, धर्मप्रचार जैसी कोई वस्तु वहाँ है ही नही, मात्र एक वातावरण-सा बना रखा है। सम्यक्त्व के नाम पर मिथ्यात्व का पोषण वर्तमान मे सोनगढ के प्रचार से हो रहा है। जहाँ देव शास्त्र गुरु की भी सच्ची श्रद्धा नहीं है, 'दिगम्बर' और 'वीतराग' शब्दों के पीछे अपनी कषायो का पोषण है।

समाज सावधान होकर चेते व इस प्रचार का असली स्वरूप पहचान कर इससे बचे एव जो कुछ जीवन मे बने मंदकषायरूप परिणामों को अपनाते हुए नियमित देवदर्शन, पूजन, स्वाध्याय, दानव्रतादिमे अपनी प्रवृत्ति रक्खें जिससे परिणामोमें सरलता व निरभिमानता आवे। वर्तमान मे इससे अधिक संभव नहीं है। कही 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का' वाली बात न हो जाय। विशेष शाति के लिए सम्यग्ज्ञानसह 'साधुदशा' बुद्धि-पूर्वक स्वीकार की जाय तब कहीं 'समयसार' का स्वचिन्तनार्थ सही उपयोग हो सकता है। शास्त्रों मे तो बहुत कुछ है, अपने पदानुसार ही जिसका उपयोग हो, उसे अपनावें, कोरे शब्दों में

लुभाने मे सार नहीं है। आशा है जैन समाज व विद्वज्जन इस पर गभीरता से विचार करेगे।

अन्त मे, मैं श्री कानजी महाराज से भी नम्र निवेदन करूँगा कि वे अपने एकांत उपदेश की शैली बदले जिससे धर्म की यथार्थता प्रकट हो। एव अपने फोटो मंदिरों मे लगवाना, पैर धुलवाना, सद्गुरुदेव कहलवाना, नमस्कार कराना आदि पर्दाविरुद्ध क्रियाएँ बन्द कर देवें तथा विधि-पूर्वक श्रावक की दूसरी प्रतिमा धारण कर व्रती श्रावक का आगमानुसार जीवन बनाये। इसमे निश्चय ही स्वाभाविक आनन्द आवेगा। साधना सदेव कष्टमय ही होती है। कृपया इस बात को भी मस्तिष्क से बिलकुल निकाल देवे कि आप वर्तमान में जीवो को सम्यक्त्व का उपदेश सचमुच दे रहे है और दुनिया मे अन्य विद्वान् त्यागीगण व पडित, मूर्ख, व्यवहार-दृष्टि निमित्ताधीनदृष्टि वाले है आदि। आप अपना ज्ञान माजने के लिए विद्वानो का समागम कीजिए व उन्हे अपना उपदेश सुनाने के लिए सोनगढ मत बुलाइए। विशेष क्या !

निवेदक—

बाबूलाल जैन गोयलीय,

सलाल (साबर काठा) गुजरात

वयोवृद्ध श्री कानजी स्वामी से

१० दिन तक प्रेम वार्तालाप

(ले०—श्री ब्र० लखमीचन्दजी वर्णी)

पिछले माह (मार्च, १९६३) मे मुझे श्री भाई कैलाशचन्द जी तथा श्री भाई पृथ्वीचन्द जी दिल्ली वालों के साथ श्री गिरनार जी की यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

रास्ते में हम लोग राजकोट उतरे और १० दिन तक ठहरे। उस समय मैं श्री वयोवृद्ध कानजी स्वामी से मिला। उन्होने पूछा कहाँ से आये हो ? मैंने कहा देहली से। क्या नाम ? मैंने कहा 'लखमीचन्द'। तब आपने कहा, क्या सूर्यसागर जी के सघ के हो ? मैंने कहा, हाँ। उस दिन तो मैंने कुछ चर्चा नही की। दूसरे दिन मैंने पूछा कि आप से एकान्त मे कुछ बात करना चाहता हूँ, तब आपने मुझे आज्ञा दे दी और जो दर्शक बैठे थे सो उनके संकेत से सब लोग उठ कर चले गए।

मैने कहा कि समाज में अनेक तरह की गलतफहमी फैली हुई है उसे मै जानना चाहता हूँ. आपने प्रेम से मुझे उत्तर दिया इसलिये आप धन्यवाद के पात्र है। उस बातचीत को समाज के लिये हितकारी समझ कर पाठको को उसका साराश बताना उपयोगी समझता हूँ।

मेरे प्रश्नो का उत्तर श्री स्वामी जी ने बड़ी सरलता से दिया।

प्रश्न—आपने अपने प्रवचन में (समयसार के प्रवचन मे) पुण्य को विष्ठा के समान बतलाया, सो क्या यह ठीक है ? क्या

ऐसा कहीं किसी आचार्य ने लिखा है कि पुण्य करना विष्ठा है। और धर्मात्मा तो पुण्य करते ही हैं, अगर पुण्य विष्ठा है तो फिर लोग यह पुण्य करना, मंदिर बनवाना, धर्म के आयतन बनवाना सब कार्य बन्द कर दें ? उत्तर में स्वामी जी ने कहा कि—

'ऐसा कषायवश लिखा गया है'।

मैंने उनसे कहा कि इस शब्द को सुधारना चाहिए, तब महाराज ने सरलता से कहा कि इस पर विचार करेंगे। अगर कोई व्यक्ति मेरे प्रवचन में से विष्ठा शब्द को निकलवाना चाहे तो मुझे कोई ऐतराज नही है।

तब मैंने कहा कि इस शब्द को आप ही निकाल दीजिये इसमे आपकी बड़ी प्रतिष्ठा है।

प्रश्न—सोनगढ के मानस्तम्भ में आपने अपनी मूर्ति क्यों लगवाई ?

उत्तर—मैंने अपनी मूर्ति नही लगवाई अन्य लोगो ने लगवाई है सो मैंने हटा देने को कह दिया है।

प्र०—आप भोजन कितनी बार करते है ?

उ०—पुराना संस्कार छूटता नही इसमे मेरी लाचारी है। क्योकि मुझे ४५ वर्ष से खाँसी की बीमारी है इसलिए सवेरे अभ्रक और त्रिफला की भस्म घी में मिला कर खाता हूँ। उसके बाद दूध बिना मीठे के पीता हूँ। कारण, नही तो अभ्रक की गर्मी से बोला नहीं जाता। भोजन दिन में दो बार करता हूँ तथा बीच में पानी पीता हूँ। मैं कुआ का पानी और हाथ का आटा तथा मर्यादा का मसाला खाता हूँ।

तब मैंने कहा कि जब इतना काम करते हैं फिर व्रत क्यों नहीं ले लेते ?

तब आपने कहा कि यह तो आचरण है। व्रत लेना और बात है और आचरण करना अन्य बात है।

प्रश्न—क्या आप रजस्वला स्त्री के हाथ से भोजन करते हैं ?

उत्तर—रजस्वला स्त्री ५ दिन तक मेरे सामने नहीं आती।

प्रश्न—अनेक पडित आपके विरुद्ध लिखते हैं आप उत्तर क्यों नही देते ?

उत्तर—अगर हम उत्तर देने में लग जाये तो मेरा अध्ययन छूट जाय, उत्तर देने में ही उपयोग लगा रहे, इसलिये उत्तर नहीं देता।

प्रश्न—आप पडितो से सिद्धान्त चर्चा क्यो नही करते ?

उत्तर—पंडित लोग निमित्त को मुख्य कहते है, और मैं उपादान को मुख्य कहता हूँ इसलिए पंडितो से चर्चा नही करता।

प्रश्न—आप प्रतिमा धारण क्यों नही करते ?

उत्तर—प्रतिमा पालने का अन्दर से भाव नही होता क्योंकि पुराना सस्कार भीतर पड़ा हुआ है।

प्रश्न—महाराजजी, आपने निश्चयनय का इतना प्रचार किया और २५ मदिर बनवा दिये तब आपका परिणाम चारित्र की तरफ क्यों नही जाता, इसका क्या कारण ?

उत्तर—यही कि अभी उस तरफ दृष्टि जाती ही नही।

"आपकी सरलता को देखकर मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। अगर आप चारित्र पर जोर देवे तो समाज की बहुत उन्नति हो और आपका नाम अमर रहे। आप व्यवहार को बंध कहते है जैसे देव पूजा गुरूपास्ति आदि को बंध कहते हैं, सो इन-शब्दों का अर्थ लोग लगाते है कि पूजा दान से बन्ध होता है सो ऐसा बन्ध

क्यों करें। अगर बन्ध के साथ 'शुभ बन्ध' कहें तो ठीक हो जाय। लोग पूजा दान करना तो चाहते ही नही, फिर आपका बन्ध शब्द सुनकर पूजा करने मे प्रायः उदासीन हो रहे हैं। इसलिए महाराज जी पूजा दान को आप 'पुण्यबन्ध' कहने लगें तो कुछ मार्ग चले, नही तो धीरे-धीरे मार्ग अवरुद्ध हो जायगा क्योंकि लोग इसको करना नही चाहते फिर आपके शब्दो को पकड़ कर स्वच्छन्द हो जावेंगे।"

आपका कार्यक्रम बडा सराहनीय है। आप दिन में सबेरे एक घंटा, मध्याह्न में १ घटा, शाम को १ घटा, इतनी बड़ी अवस्था में भी बोलते हैं। इतना बोलना यह सब ब्रह्मचर्य का माहात्म्य है।

—०—

आचार्य कुन्दकुन्द की देन

सस्कृत, प्राकृत तथा जैन सिद्धान्त के प्रकाण्ड विद्वान्, जैनागम तथा अनेक प्राचीन ग्रन्थो के सम्पादक, हिन्दु विश्व विद्यालय वाराणसी मे जैन दर्शन के भूतपूर्व प्रोफेसर श्री दलसुख मालवणिया अहमदाबाद लिखते हैं :—

"यदि व्यवहार नय नहीं तो निश्चय भी नही। यदि संसार नहीं तो मोक्ष भी नही। ससार और मोक्ष जैसे परस्पर सापेक्ष है उसी प्रकार व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष है।"

(वर्णी अभि० ग्रन्थ पृष्ठ ४४)

—०—

नियतिवाद का एकांत

[ले०—बा० श्री कृष्ण जैन, दिल्ली]

जैनधर्म के सिद्धान्त के अनुसार संसारी जीव मोहनीय आदि कर्मों के कारण परतन्त्र बने हुए है, जो मनुष्य जिनवाणी का उपदेश सुनकर कर्मों से मुक्त होने का यत्न करता है, वह मुक्त हो जाता है। जो उतना ऊँचे दर्जे का तप नही कर पाता वह अपने शुभ कार्यो से शुभ कर्मो का बन्ध करके ससार के सुख प्राप्त करता है और जो हिंसा आदि पाप कार्य किया करता है वह नरक गति आदि मे दुःख भोगता है। इस तरह अपना भला बुरा करना जीव के अपने अधीन है। वह ही अपने अच्छे या बुरे भाग्य का विधाता है।

तीर्थंकर जन्म से अवधिज्ञानी होते है इसलिए उनको मालूम होता है कि अब उनको अगले भव मे कही जन्म नही लेना, इसी भव से जरूर मुक्त हो जायगे। इसके साथ ही उनको यह भी मालूम होता है, कि मुक्ति उनको घर बैठे अपने आप नही मिल जायगी, उसके लिए उनको बहुत कुछ तपस्या करनी पडेगी, इसलिये वे सब संसारी सुखो को ठुकरा कर तपस्या करने के लिए अकेले नगे वन मे चले जाते है।

तीर्थंकरो ने दूसरे जीवो को भी यह उपदेश दिया कि अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिये धर्म-साधन करते रहो, भाग्य-भरोसे न बैठे रहो। ऐसे ही उपदेश जैन ग्रन्थो में भरे पड़े हैं।

परन्तु अभी कुछ दिन से जैन समाज में एक नया मत चल पडा है कि "तुम चाहे जो कुछ करो, लेकिन होगा वही, जो कुछ होनहार है। हर एक जीव की अनन्त भविष्य काल के लिये पर्यायें पहले से ही सर्वज्ञ भगवान ने नियत कर दी हैं, सब कुछ उसके मुआफिक होगा, रंच भर उसमे फेरफार नही होगी।"

ऐसे सिद्धान्त को जैनधर्म में 'नियतिवाद' नामक एकान्त मिथ्यात्व कहा गया है। इस मिथ्यात्व की पुष्टि किसी भी आचार्य ने नही की। लेकिन आजकल हमारे कुछ भाई इस नियतवाद नियतिवाद मिथ्यात्व को भी सम्यक्त्व का नाम देकर सिद्धान्त बता रहे हैं। अच्छा होता कि वे उस ग्रन्थ का भी नाम लिख देते जिसमे इस मिथ्यात्व को सम्यक्त्व बताया गया है, लेकिन वह उस गुप्त ग्रन्थ का नाम कभी भी नही बता सकेंगे, ऐसा मुझे पूरा विश्वास है।

इसके साथ ही यह भी पक्का यकीन है कि आज तक कोई भी ऐसा बुद्धिमान मनुष्य पैदा नहीं हुआ कि जो इस यकीन के साथ यह मानकर एक दिन भी बैठा रहा हो कि "मेरी जो नियतिवाद के अनुसार होनहार है उसे देख लू, कुछ भी न करूँ, यहाँ तक कि खाने पीने की भी कोशिश न करूँ, अगर होनहार (नियति) के अनुसार मुझे भोजन मिलना है तो वह जरूर मिल जायगा"

आजकल भी जो लोग किसी खास वजह से नियतिवाद का सम्यक्त्व के नाम पर समर्थन कर रहे है, वे भी मुख से तो जरूर नियतिवाद की बात कहते है या हाथो से उसके पक्ष में लिखते है कि नियति के अनुसार हो सब कुछ होगा। किन्तु हृदय से उनको उस नियति पर विश्वास नही है, इसीलिए वे भी अपनी भूख प्यास मिटाने के, धन कमाने के, विषय भोग भोगने के, अपने

माल की रक्षा करने के वे सभी काम अपनी समझ के अनुसार कर रहे है जैसे कि नियति के न मानने वाले करते हैं। उनकी अगर कोई चीज कोई आदमी उठाले तो उस समय उनके दिमाग से अपनी होनहार का विचार काफूर हो जाता है, अपनी होनहार को वे एक मिनट भी अजमाना पसन्द नही करते, फौरन अपनी चीज उठाने वाले से लडने बैठ जाते है।

अरे भाई ! यह क्या बात है अपनी होनहार को एक दिन तो अजमा कर देखो, अगर तुम्हारी चीज चली जानी है तो जरूर चली जायगी, फिर तुम उस आदमी को क्यो रोकते हो जो तुम्हारी चीज उठा रहा है ? तुम्हे नियतिवाद के सिद्धान्त पर इतना भी विश्वास नही ?

इस तरह नियतिवाद का ढिढोरा पीटने वालो की करनी और कथनी मे जमीन आसमान का अन्तर है। कहने के लिए तो उनका सर्वज्ञ नियतिवादी है और करने को उनका सर्वज्ञ नियतिवादी नही है, उसके लिए वह पुरुषार्थवादी है।

श्री कानजी स्वामी से कोई प्रश्न करे महाराज आप मुनिव्रत या श्रावक के व्रतो का आचरण क्यो नही करते ? तो उनका भी उत्तर यही रहता है कि जब काललब्धि आवेगी तब संयम अपने आप हो जायगा। परन्तु खान, पान आदि व्यवहारिक कामो के लिये काललब्धि उनके खयाल मे भी नही है।

इन नियति वादियोसे मेरे कुछ प्रश्न हैं–

१–अगर निमित्त कुछ काम नही करता तो जीव अनादि से ससार मे क्यो घूम रहा है ? आप मनुष्य क्यो बने, कबूतर देव या अर्हन्त क्यो नही बन गये ? आपके आत्मा की मुक्ति पाने की योग्यता क्यो छिपी हुई है ?

२–अगर नियति के ही आप भक्त हैं तो दो चार दिन उस नियति की परीक्षा क्यों नहीं कर लेते ? सब कुछ छोड़-छाड कर बैठ जाइये, सर्वज्ञ ने आपको जैसी पर्याय देखी है वैसी हो हो जायगी, भूख, प्यास मिटनी है तो अवश्य मिट जायगी ! आपका उपादान भी आपके पास है और सर्वज्ञ का नियतिवाद भी आपके पास है, क्यो फिजूल दौड-धूप करते हैं ? एक हफ्ते इस नियतिवाद को अमली जामा पहना कर दिखला दे, जो होना है सो हो हो जायगा !

३– हमारे तीर्थंकरो ने हजार हजार वर्ष तक तपस्या करके भूल की, उनको जब मुक्ति होनी थी, वह हो ही जाती। श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने गलती की, इन नियति वादियो के अनुसार सब जीवो की पर्यायें नियत है, इन शास्त्रों के उपदेशो से जब उस अटल होनहार मे कुछ रत्ती भर फर्क नही पड़ता, तब समयसार के बनाने की क्या जरूरत थी ? और श्री कानजी स्वामी को भी उसका प्रवचन करने की क्या जरूरत ? सर्वज्ञ ने जो कुछ जाना देखा है, वह हो जायगा। * *

—०—

सुन्दर भाषा

(श्री बा० कलीरामजी जैन)

शब्द असंख्य है—सज्जन पुरुष का कर्तव्य है कि वह अच्छे सुन्दर सभ्य मीठे शब्दो का इस्तेमाल करे।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने रयणसार ग्रन्थ में गृहस्थ जन के लिए दान और पूजा मुख्य धर्म बताया है क्योकि सच्चे देव शास्त्र गुरु का भक्त सम्यग्दृष्टि जैन गृहस्थ अपने धन से मोह ममता त्याग कर दान करता है और कुदेव पूजा का त्याग करके अर्हन्त भगवान की पूजा करता है। उसके सराग भाव से जहाँ पुण्य बन्ध होता है, वहाँ त्याग भाव से सवर निर्जरा भी होती है। इसलिए सवर निर्जरा का कारण होने से पूजा और दान को श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने धर्म कहा है।

श्री कान जी दान पूजा आदि करने वालो को हीजड़ा, नालायक, वीर्यहीन, नपुसक, मिथ्यादृष्टि, अधर्मी, लुटेरा, डाकू कहते हैं। उनकी कितनी अच्छी सुन्दर मीठी भाषा है।

अप्रैल १९६३ के आत्मधर्म पत्र के ५२४ तथा ५२५ पृष्ठ पर उनके नीचे लिखे वाक्य पढिये।

"हिजडे (नपुंसक), सैनिक की पोशाक पहिनकर युद्ध में नहीं लड़ सकते, उसी प्रकार जिन्होने आत्मबल (वीर्य) को पुण्य-पाप में धर्म मान कर लगाया वे आत्म हित के कार्य मे नालायक है, असमर्थ है। पुण्य चाहिए, प्रथम शुभ राग रूप व्यवहार चाहिए, ऐसी पराश्रय की श्रद्धा करने वाले वीर्यहीन नपुसक है, अनादि रूढ़ व्यवहार मे विमूढ है, इसलिए वे प्रौढ विवेक वाले निश्चय मे अनारूढ़ है-अर्थात् आत्महित रूप स्वकार्य मे प्रमादी होकर सो रहे है।

वीतराग भाव से ही धर्म होता है-ऐसी श्रद्धा छोड़ कर जो पुण्य में, दया, दान, पूजा के शुभ राग में धर्म मानते हैं वे चैतन्य की जागृति रहित होने से वीर्यहीन नपुसक है।

चैतन्य स्वभाव का आलम्बन, वह धर्म है, धर्म का कारण है। निचली भूमिका मे व्रत, तप, दान, पूजा, भक्ति आदि के शुभ भाव आते हैं किन्तु वह पराश्रयरूप राग है, बन्ध का ही कारण है, स्वयं बन्ध भाव है, उसको कथचित् व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा हो वहा समझना कि ऐसा नही है क्योंकि वह मलिन भाव आस्रव तत्त्व है। उसे जो धर्म माने—मनाये वे हिंसक है—मिथ्यादृष्टि है, अधर्मी है, राग को धर्म मानने वाले जैन शासन के लुटेरे, डाकू है।"

प्रश्न यह है कि दान, पूजा, अणुव्रत महाव्रत आदि को श्री कुन्द कुन्द आचार्य ने जो धर्म बतलाया है क्या वह गलत है ? स्वय कुन्दकुन्द आचार्य जिस व्यवहार चारित्र का आचरण करते थे सो क्या वे धर्मात्मा नही थे ? आचार्य कुन्द कुन्द ने समयसार में जो लिखा है निश्चय नय तेरहवे गुणस्थानवर्ती पूर्णज्ञान चारित्र (सम्यक्त्व) वाले के लिये और उससे नीचे गुणस्थान वालो के लिये व्यवहारनय बतलाया है। सुद्धो सुद्धादेसो णायब्वो परमभाव दरसोहि, आदि) क्या कानजी भाई उस पद मे पहुँच गये है जहाँ व्यवहार धर्म नही है ? वे जो खुद पूजा भक्ति करते है सो कर्मबंध के लिये करते है या कर्मों से छूटने के लिये ? और जो अपशब्द वे दूसरों के लिये लिख रहे है वे उन पर लागू होते है या नही ? वे खुद शुद्धोपयोगी है या शुभोपयोगी ? इसी को कहते है। 'दीगरा नसीहत खुदरा फजीहत।'

—*‡*—

पंचम काल के तीर्थङ्कर

(श्री रूपचन्दजी जैन)

[जैन गजट गुरुवार ११ जुलाई १९६३]

श्री कानजी स्वामी के श्रद्धालु मुमुक्षु भाई इधर तो महाव्रती दिगम्बर जैन मुनियो को भी गुरु नही मानते, अपने आपको उनसे भी बड़ा समझ कर मुनियो का विनय करने मे अपने सम्यक्त्व की हानि समझते है। उधर अव्रती कानजी स्वामी को "पचमकाल का तीर्थङ्कर, तीर्थङ्कर का अवतार, केवलज्ञान का टुकड़ा, गुरु भगवान, महा विदेह से आने वाले" आदि विशेषणो के साथ मानते है। यह अन्ध-श्रद्धा या असत्-भक्ति है या नही ? यह एक सवाल मुमुक्षु भाइयो के सामने है।

आश्चर्य इस बात का है कि कानजी स्वामी भी अपनी ऐसी झूठी तारीफ को रोकते नही, मौन रहकर समर्थन करते है।

जैनमित्र (२७ जून १९६३) के अक मे "कहान भजन मजरी" पुस्तक की जो समालोचना छपी है उसे हम यहाँ ज्यो का त्यो देते है। आशा है पाठक महानुभाव मुमुक्षु भाइयो के विवेक की सराहना करेगे।

"कहान भजन मंजरी–प्रथमपुष्प, कानजी स्वामी की ७४ वी जन्म जयन्ती पर प्रकाशित। रचयिता—चपकलाल मोहन डगली बम्बई और आपकी पत्नी और आपकी दो पुत्रियाँ। प्रकाशक—व्रजलाल फूलचन्द भायाणी लाठी (सौराष्ट्र) स्वाध्यायार्थ भेट। पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। गुजराती मे है।

भक्ति का अतिरेक ही नहीं किन्तु व्यतिरेक के कारण इस कहान भजन मजरी मे कानजी स्वामी के प्रति ऐसे शब्द लिखे गये हैं जिन्हें पढ कर हमें साश्चर्य दु:ख हो रहा है।

इस पुस्तिका के भजनों में बतलाया है कि महाविदेह क्षेत्र से गुरुजी (कानजी) पधारे है, पृष्ठ १। कहान गुरु भगवान का

भक्तजन ध्यान करें पृ० २। कलिकाल समयसार के विना सूना है और समयसार गुरु कहान विना सूना है। गुरुजी केवलज्ञान के टुकड़े (अश) है पृ० ६, तीर्थंकर देव के अवतार है पृ० १०, आचार्य कुन्दकुन्द की तरह कानजी गुरु मंगलस्वरूप है पृ० ११, इस भारत भूमि पर भावी तीर्थङ्कर देव कानजी स्वामी विचरण कर रहे है, फिर आगे लिखा है ये तीर्थङ्कर होगे पृ० १३, पचम-काल में कल्पवृक्ष फलित हुआ है पृ० १६, उजमवा माता के घर प्रभुका जन्म हुआ, भारत भूमि के हे ! तीर्थङ्कर देव पृ० १७।

इस प्रकार हम देखते है कि इस २२ पेज की पुस्तिका में जो अतिशयोक्ति की है सचमुच वह अनुचित एव हीन है। यह हमारी दृष्टि मे भक्ति का व्यतिरेक ही नही अपितु भक्ति के नाम पर अन्ध-श्रद्धा और अज्ञान काम करता है। भक्ति मे भी विवेक की आवश्यकता है। हम श्री कानजी स्वामी के विरोधी है, ऐसा नही समझना चाहिये। जैनमित्र के माध्यम से ही कानजी स्वामी भारत मे प्रसिद्ध हुए है। पर उनको तीर्थङ्कर कहना विदेह क्षेत्र से आना, या भविष्य मे तीर्थङ्कर होना उनको आ० कुन्दकुन्द मानना सचमुच मे सिद्धान्त के विरुद्ध है और लोक-विरुद्ध है। उनके भक्तगण विवेक से काम ले ? हम कानजी स्वामी के अभ्युदय एव निःश्रेयस प्राप्ति की कामना करते हैं।

अन्त मे हमारा श्री कानजी स्वामी से विनम्र निवेदन है कि वे अपने भक्तो से कहे कि यह व्यतिरेक–यह अतिशयोक्ति मेरे प्रति न की जाये। यह सच है कि आप अपने भक्तो से ऐसा नही कहते कि तुम मेरे लिये अतिशयोक्ति से भरे शब्दो का प्रयोग करो फिर भी आप अपने भक्तो को रोक सकते है। और आपकी आज्ञा आपके भक्त शिरोधार्य करेगे। हम पुन विनम्र शब्दों में लिखते हैं कि हमारा आप से कोई विरोध नही, हम हमेशा ही आपके प्रशंसक एवं प्रचारक रहे है।—जैनमित्र सूरत।

निमित्त का.ण

(दिवगत श्री बा० सूरजभान जी वकील)

'अनादि कालसे ही विषय-कषायो में फँसा हुआ यह जीव 'विषय-कषायों का अभ्यासी हो रहा है, इस ही कारण विषय-कषायों को भडकाने वाले निमित्तो का असर उस पर बहुत जल्द होता है, विषय-कषाय की बातो के ग्रहण करने के लिए वह हर वक्त तैयार रहता है। इसके विपरीत विषय-कषायो को रोकने, दबाने, काबू मे रखने अथवा सर्वथा छोड़ देने की बात उसको बिलकुल ही अनोखी मालूम होती है और इसी से यह बहुत ही कठिनता के साथ हृदय मे बैठती है। ऐसी हालत मे बड़ी सावधानी के साथ खोटे निमित्तो से बचते रहने की, उन को अपने पास तक भी न आने देने की और पूरी कोशिश के साथ उत्तम उत्तम निमित्तो को मिलाते रहने की बहुत ही ज्यादा जरूरत है। खोटे निमित्त जीव के उससे भी अधिक शत्रु हैं, जितने कि उसके खोटे कर्म क्योकि ये खोटे निमित्त ही तो सोती कषायो को जगा कर जीव से महा खोटे कर्म कराते है और उसका सत्यानाश कर डालते हैं। इस ही कारण शास्त्रो में महा-मुनियों तक को भी खोटे निमित्तो से बचते रहने की भारी ताकीद की गई है, जिसके कुछ नमूने इस प्रकार है—

भगवती आराधनासार के नमूने

गाथा १८६—एकान्त मे माता, पुत्री, बहन को देखकर भी काम भडक उठता है। गाथा १२०६—जैसे कोई समुद्र मे घुसे और भीगे नही तो बडा आश्चर्य है, ऐसे ही यदि कोई विषयों के स्थान मे रहे और लिप्त न हो तो आश्चर्य ही है। जैसे किसी को शराब पीता देखकर वा शराब की बाते सुन कर शराबी को

शराब पीने की भड़क उत्पन्न हो जाती है, उस ही प्रकार मोही पुरुष विषयों को देख कर वा उनकी बात सुनकर विषयों को अभिलाषा करने लग जाता है। (गाथा १०८६)

मूलाचार के नमूने

गाथा ६५४–सगति से ही सम्यक्त्व आदि की शुद्धि बढ़ती है और संगति से ही नष्ट होती है, जैसे कि कमल की संगति से पानी सुगन्धित हो जाता है, और अग्नि की सगति से गरम। गाथा ६६०—काठ की बनी हुई स्त्री से भी डरना चाहिए, क्यों कि निमित्त कारण के मिलने से चित्त चलायमान होता है।

निमित्त कारण के मिलने से कर्म किस तरह भडक उठते हैं इसका उल्लेख गोम्मटसार मे सज्ञाओ के वर्णन में इस प्रकार मिलता है :—

गाथा १३३—जिसके निमित्त से भारी दु ख प्राप्त हो ऐसी वाछा को सज्ञा कहते हैं। आहार, भव, मैथुन और परिग्रह यह चार सज्ञाये है।

गाथा १३४—आहार के देखने वा याद करने से पेट भरा हुआ न होने पर असातावेदनीय कर्म की उदय उदीरणा होकर आहार की इच्छा पैदा होती है।

गाथा १३५—किसी भयकर पदार्थ के देखने या याद करने से शक्ति के कम होने पर भय कर्म की उदय उदीरणा होकर भय उत्पन्न होता है।

गाथा १३६—स्वादिष्ट, गरिष्ठ, रसयुक्त भोजन करने से, कुशील सेवन करने वा याद करने से वेद कर्म की उदय उदीरणा होकर काम—भोग की इच्छा होती है।

गाथा १३७—पदार्थों के देखने वा याद करने से लोभ कर्म की उदय-उदीरणा होकर परिग्रह की इच्छा होती है।"

(लेखक की पुस्तक भाग्य और पुरुषार्थ पृष्ठ २८, २६)

जीव और कर्म

[लेखक—श्री पं० लालबहादुर जी शास्त्री, एम० ए०, इन्दोर]

महाविश्व मे सदा विचरते हैं जो दोनों मिलकर,
और सृजन करते हैं अपनी दुनिया नई चराचर।
है वे जीव तथा पुद्गल पर दोनो भिन्न परस्पर,
वर्ण गन्ध रस हीन जीव है पुद्गल है इनका घर।

रहकर भी यों पृथक, शक्ति वैभाविक का बल पाकर,
निज स्वभाव को छोड़ परस्पर मिल जाते हैं सत्वर।
यों अनादि से कर्मबद्ध यह जीव चला आता है,
इसीलिए पर्याय-दृष्टि से मूर्त नाम पाता है।

निज कषाय भावो से योगो की सकम्पना पाकर,
कर्म पुद्गलो को अपनाता है यह अपने अन्दर।
फिर उनके आधीन स्वय ही सुख-दुख फल पाता है,
द्रव्य भाव कर्मों का यों यह चक्र चला आता है।

त्याग मोह ममता को, यदि यह अपने को पहचाने,
पर परिणति से दूर अजर अविनाशी निज को माने।
कर्म भार से तब यह भी हलका होता जाता है,
और सिद्ध सर्वज्ञ निरन्जन क्रमश: बन जाता है।

कर्मों को अपनाना अथवा उनसे पिण्ड छुड़ाना,
उनमे परिवर्तन करना या उनका समय बढ़ाना।
है सब यह आधीन जीव के कर्म न कुछ कर पाता,
है अनन्त बल का यह स्वामी उसको देख न पाता।

कर्मों की यह सत्ता तिल की ओट पहाड़ समझना,
कायरता है तेरी जो इनमे अविराम उलझना।
तेरी भूलो की दुनिया को तू उजाड़ सकता है,
ईश्वर या शैतान सभी कुछ तू ही बन सकता है।

छोड़ भीरुता मत विलम्ब कर दे तू इन्हे चुनौती,
बतला दे तू एक जीव मे प्रभुता कैसी होती।
होकर के भगवान् भिखारी का पद क्यो अपनाता,
एक तुम्हारी ही सत्ता है जिसका यश जग गाता।

—०—

श्री पूज्य १०८ धर्मकीर्ति जी ज्ञानमाला

इस
लगभग २
जायेंगीं औ
जी महारा
तथा मनन

१—स
२—
३—
४—
५—
६—
७—
८—
९—
१०—
११—
१२—
१३—
१४—
१५—
१६—
१७—
१८—
१९
२०
२१
२२